॥ श्री महावीराय नमः ॥

卐 मानव मार्ग दर्शन 卐

(द्वितीय भाग)

परम पूज्य महान् तपस्वी योगि सम्राट चारित्र चक्रवर्ती

आचार्य शिरोमणि सौम्यमूर्त्ति

श्री १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज

के

शुभाशीर्वाद से प्रेरित

संकलनकर्ता :

श्री १०५ क्षुल्लक सिद्धसागरजी महाराज

सम्पादक :

'विद्याभूषण' 'सिद्धांतभूषण'

पं० विद्याकुमार सेठी (न्याय काव्य तीर्थ)

(अधिष्ठाता : श्री दि० जैन आचार्य धर्मसागर व्रती आश्रम, सीकर)

प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन समाज, सीकर (राज०)

सीकर चातुर्मास — प्रथमावृत्ति :

वीर नि० सं० २५०४ — ४००० प्रतियां

मि० कृष्णा १ सं० २०३४ — मूल्य :

दिनांक २६-११-१९७७ — स्वाध्याय एवं आत्मचिंतन

क्षमा-याचना

इस ग्रन्थ के मुद्रण में यद्यपि पूर्ण सावधानी के साथ कार्य सम्पन्न किया गया है, तदापि त्रुटियाँ रह जाना असम्भव नहीं है। सुधीजन त्रुटियों को सुधारकर पढ़ेंगे और क्षमा प्रदान करेंगे ऐसी आशा है।

—व्यवस्थापक

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य
श्री धर्मसागरजी महाराज

जन्म .
गम्भीरा (राजस्थान)
पौष शुक्ला पूर्णिमा
वि. स १९७०

मुनि दीक्षा :
फुलेरा (राजस्थान)
कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी
वि. सं. २००८

卐 समर्पण 卐

जिनकी असीम कृपा से इस संसार से मुझे विरक्त होने का साहस मिला अर्थात् जिनके परम पुनीत शुभाशीर्वाद रूप विशाल कल्प वृक्ष की छाया में मुझे अपार आनन्द की प्राप्ति हुई है ऐसे श्रीमत् परम पूज्य, परम तपस्वी, धर्म दिवाकर, जगद्वन्द्य, इस युग के समीचीन जैन धर्म के संचालक, महर्षि, चारित्र-चक्रवर्ती, योगीन्द्र चूडामणि, सतत् प्रसन्न मुख

१०८ आचार्य प्रवर श्री धर्मसागरजी महाराज

के

पुनीत कर कमलों में

अनन्य श्रद्धा एवं भक्ति पूर्वक

सादर समर्पित

तुभ्यं नमोऽस्तु शुभ धर्म समर्थ काय,
तुभ्यं नमोऽस्तु जन-ताप-विनाश काय।
तुभ्यं नमोऽस्तु भव-शोषक-पद्म बन्धो,
तुभ्यं नमोऽस्तु गण पोषक धर्म सिन्धो ॥

क्षुल्लक सिद्धसागर (लाडनूं वाला)

श्रद्धा एवं भक्ति से आप्लावित हृदय के उद्गार

हे जगत् पूज्य ! शत-शत वन्दन !!
हे सौम्यमूर्त्ति ! शत-शत वन्दन !!

卐

धन्य है तेरे त्याग तपों को, अमर रहेगी, तेरी भव्य कहानी ।
युग-युग तक याद करेंगे, मानव, तेरी सरस मधुर बानी ।।
चन्द्र सिंधु की छाया में रहकर, तुम निर्मलचन्द्र समान हुये ।
वीर सिंधु के पद पर चलकर, जग में तुम विख्यात हुये ।।

卐

तेरी वाणी को सुनकर गुरुवर, पत्थर सम दिल भी झुक जाते हैं ।
जय ! मृदुल सौम्य तेज पुञ्ज, तेरे गुण कहने में नहीं आते हैं ।।

चरणावनत—
क्षुल्लक सिद्धसागर
(लाडनूं वाला)

मानव मार्ग दर्शन (द्वितीय भाग)

स्वर्गीय परम पूज्य, आर्ष मार्ग प्रवर्त्तक निर्भीक

सत्यवादी, उग्रतपस्वी, आचार्य कल्प

श्री १०८ श्री चन्द्रसागरजी महाराज
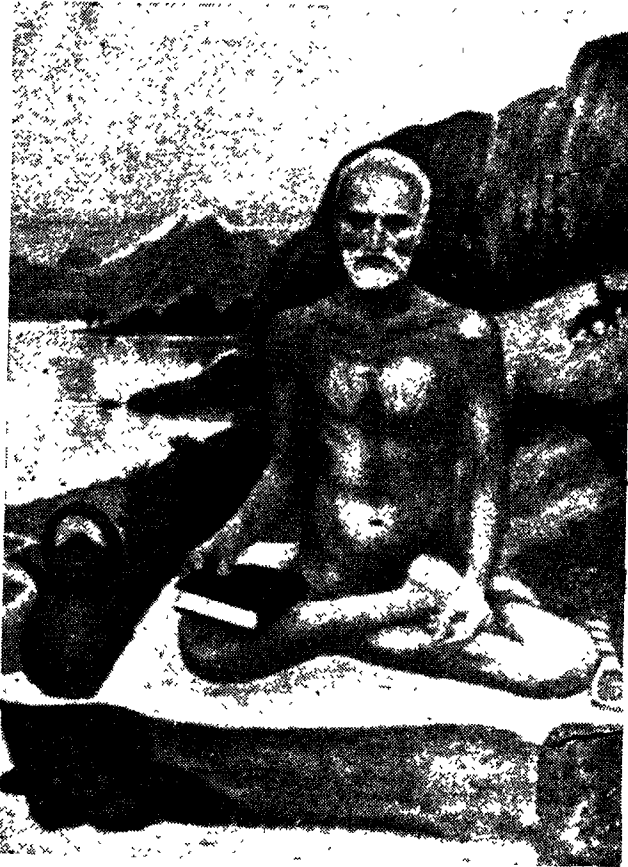
जन्म :
माघ कृष्णा त्रयोदशी
वि सं. १९४०

समाधि :
फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा
वि. सं. २००१

स्वर्गीय परम पूज्य, आर्ष मार्ग प्रवर्तक, निर्भीक सत्यवादी, उग्रतपस्वी, मुनिपुङ्गव, आचार्य कल्प

श्री १०८ श्री चन्द्रसागरजी महाराज

का

संक्षिप्त परिचय

जब धर्म मार्ग अवरुद्ध हुआ, पथ भूल भटकते थे प्राणी।
सद्गुरु के उपदेश बिना, नहीं जान सके थे जिनवाणी।।
धर दीक्षा मुनि मार्ग बताया, स्वयं बने निश्चल ध्यानी।
प्रणमूं श्री गुरु चन्द्र सिन्धु को, जिनकी महिमा सब जगजानी।।

जब समस्त संसार में मिथ्यात्व अंधकार छाया हुआ था, प्राणी अज्ञान के गहन कूप में गिरकर, किंकर्त्तव्य विमूढ होकर, अपने लक्ष्य की प्राप्ति में असफलता का अनुभव कर रहे थे, मोह रूपी मदिरा का पान कर, मानव; सन्मार्ग को भूल रहे थे; ऐसे घोर विकट समय में, इस भारत व सुन्धरा के महाराष्ट्र प्रांत में नांदगांव निवासी, खण्डेलवाल जातीय, पहाडिया गोत्री श्रीमान् श्रेष्ठिवर नथमलजी की धर्म पत्नी सीतादेवी की कुक्षि से मिथ्यात्वान्धकार नाशक, सन्मार्ग प्रकाशक पुत्र रूपी चन्द्र का उदय हुआ था; वही प्रकाशपुञ्ज, चारित्र-चक्रवर्ती श्री शांतिसागरजी महाराज के शिष्य श्री चन्द्र सागरजी के नाम से प्रकट हुआ; जिन्होंने आपकी वाणी रूपी

शीतल चांदनी का आश्रय लिया; वास्तव में उनका संसार-ताप दूर हो गया; यद्यपि कई तरह की विपत्तियों के काले बादल आपके सामने मंडराये तथा उन्होंने आपके स्व-पर-हितकारी कार्य में बाधा डालने का प्रयत्न किया; परन्तु आपने उन उपसर्गों को हंसते २ सहन किया। आपकी त्याग और तपस्या संसार के प्राणियों के लिये एक अलौकिक आदर्श थी। आप सिंह के समान निर्भिक थे; किसी प्रकार का प्रलोभन या ख्याति, पूजा, लाभ की प्रबल वायु आपके मेरुवत् हृदय को नहीं हिला सकी। सत्य जिनागम के रहस्य से चिढने वाले, विरोधीजनों ने आपका विरोध किया परन्तु सत्पथ के ध्येय को आपने नहीं छोडा; अन्तमें सत्य की विजय ही हुई।

आपने संसाराब्धि के भंवरों में गोते खाने वाले अनेक भव्यों को, व्रतों का हस्तावलंबन देकर बाहर निकाला; वास्तव में जिन प्राणियों ने आपका सान्निध्य प्राप्त किया उनका कल्याण हुआ।

आपके गुणानुराग से प्रेरित होकर ही आपकी स्मृति में, लाडनूं नगर में, श्री चन्द्रसागर–स्मारक के रूप में एक विशाल एवं रमणीक भव्य मंदिर का निर्माण हुआ। मारवाड़ प्रान्त में तो वास्तव में आपने जैन धर्म का डंका बजाकर सर्व साधारण का जो उपकार किया, उसे भुलाया नहीं जा सकता। जैसे– चतुर वैद्य रोगी के रोग का ठीक निदान करके ही औषधि का प्रयोग करता है, उसी प्रकार आप भी भव्य जीवों के शिथिलता जन्य रोग को भलिभांति दूर कर, रसायन पिलाकर, सन्मार्ग में आरुढ कर देते थे।

चरणावनत—

क्षुल्लक सिद्धसागर

मानव मार्ग दर्शन (द्वितीय भाग)

स्वर्गीय परम पूज्य, तरण तारण, तपोनिधि, सिद्धक्षेत्र
वंदना भक्त शिरोमणी, विश्ववंद्य, आचार्यवर्य

१०८ श्री महावीरकीर्तिजी महाराज

जन्म :	मुनि दीक्षा :	समाधि :
वि. सम्वत्	वि. सम्वत्	मेहसाना
१९६७	१९९९	६-१-७२

स्वर्गीय परम पूज्य तरण तारण, तपोनिधि, सिद्ध क्षेत्र
वंदना-भक्त-शिरोमणि, निग्रंथ, आचार्यवर्य

श्री महावीर कीर्तिजी महाराज

का

संक्षिप्त परिचय

आपका जन्म फिरोजाबाद (आगरा) में हुआ था, आप पद्मावती पोरवाल जाति के प्रसिद्ध कुल महाराजा खानदान के थे। दिगंबर साधु अवस्था धारण करके कुछ वर्ष आप दक्षिण प्रान्त में विहार करके धर्म का उद्योत करते रहे, आचार्य होकर आपने बहुत योग्यता पूर्वक चतुर्विध संघ का संचालन किया। आचार्य पद के अनुसार आप में सभी उल्लेखनीय गुण थे। आप शास्त्र-पारंगत विद्वान् थे। आप अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे, आपके द्वारा दिगंबर जैन धर्म की महती प्रभावना हुई थी, आपने अपने चतुर्विध संघ के साथ सभी देशों में विहार किया और धर्म का प्रचार किया। आप महान् उपसर्ग-विजयी एवं निर्मोही साधु रत्न थे।

पूज्य आचार्य श्री की निर्वाण भूमियों पर विशेष भक्ति रहती थी फलतः आपके अंतिम १०-१५ वर्ष के चातुर्मास

प्रायः तीर्थ क्षेत्रों में व्यतीत हुये, मेरा सौभाग्य था कि मैं आपके चरणों में रहकर अपने धार्मिक संस्कारों में दृढता ला सका। आपके ही शुभाशीर्वाद से मैं आज क्षुल्लक पद को धारण कर सका।

चरण वंदना

दृढ तपस्वी परम विद्वान् निर्भीक, आगम-मर्म-स्पर्शी, अनर्थ के शत्रु, सत्य के पुजारी, आत्मबोधी, तरण तारण गुरु देव के चरण-कमल में शत शत वन्दन ! शत शत वंदन ! शत शत वन्दन !

आपका चरण सेवक
क्षुल्लक सिद्धसागर
(लाडनूँ वाला)

मानव मार्ग दर्शन (द्वितीय भाग)

श्री १०५ क्षुल्लक श्री सिद्धसागरजी महाराज

जन्म :
श्रावण कृष्णा पंचमी
सम्वत् १९८१
लाडनूं (राजस्थान)

क्षुल्लक दीक्षा :
माघ शुक्ला पंचमी
सम्वत् २०३२
मुजफ्फरनगर (यू. पी.)

पूज्य १०५ क्षुल्लक सिद्धसागरजी महाराज

का

संक्षिप्त जीवन चरित्र

स जातो येन जातेन, याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे, मृतः. को वान जायते ॥१॥

आपका जन्म सं० १९८१ श्रावण कृष्णा पंचमी के दिन लाडनूं (राजस्थान) निवासी लब्ध प्रतिष्ठ श्रीमान् सेठ मांगीलालजी जैन अग्रवाल के हुआ; आपकी माता श्री मोजीदेवी धन्य है जिन्होंने ऐसे पुत्र रत्न को जन्म दिया; जिनके पूर्व जन्म के संस्कार तो उत्तम थे ही; किन्तु इस भव में भी महान् पुण्योदय के कारण उच्चतम निमित्त प्राप्त हो सके—

(१) ग्यारह वर्ष की बाल्यावस्था में ही स्वर्गीय परम पूज्य श्री १०८ श्री चंद्रसागरजी महाराज द्वारा यज्ञोपवीत धारण किया।

(२) आचार्य श्री १०८ श्री वीरसागरजी महाराज द्वारा सपत्नीक शूद्र जल का त्याग कर आहार दानादिक का सौभाग्य प्राप्त किया।

(३) संवत् २०१६ में जब लाडनूं में चन्द्रसागर स्मारक की पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा आपके पिताजी द्वारा सुसम्पन्न

हुई थी उस समय अपनी पत्नी सहित सौधर्मेन्द्र, इन्द्राणी के पद को सुशोभित करते हुये परम पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री शिवसागरजी महाराज के चरण सान्निध्य में आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया; इस प्रकार युवावस्था में ही इस दम्पति-रत्न ने भौतिकवाद के युग में भी असिधाराव्रत का पालन कर एक अनुकरणीय अपूर्व साहस का कार्य किया।

(४) आपने स्वर्गीय परम पूज्य आचार्य प्रवर श्री १०८ श्री महावीरकीर्त्तिजी महाराज के समक्ष संवत् २०२६ में श्री गजपंथा क्षेत्र में द्वितीय प्रतिमा के व्रत के साथ ही साथ आजीवन एक मुक्ति व्रत भी ग्रहण किया।

(५) आपने वि. सं. २०२६ में परम पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज के लाडनूं चतुर्मास में सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये।

(६) "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" की उक्ति के अनुसार जब आप संवत् २०३२ के माघ मास में विजयनगर (आसाम) की बिम्ब प्रतिष्ठा में सम्मिलित होने जा रहे थे उस समय आप बीच में ही मुजफ्फरनगर में पूज्य आचार्य श्री धर्म सागरजी महाराज के दर्शनार्थ रुके, वहां माघ शुक्ला पंचमी को दश दीक्षायें होने जा रही थीं। आपका विचार दीक्षा समारोह देख करके उसी दिन दोपहर की गाडी से कलकत्ता

होकर विजयनगर जाने का था; जिसके लिये आपने मुजफ्फरनगर से कलकत्ता का टिकिट खरीद लिया तथा कलकत्ता टेलीफोन करके गोहाटी के लिये हवाई जहाज का टिकिट भी रिजर्व करा लिया था। यह सब होते हुये भी माघ शुक्ला चतुर्थी के सायंकाल के समय; संसार को असार समझ करके; विशाल परिवार एवं सम्पत्ति के होते हुये भी आपके हृदय में अकस्मात् वैराग्य समुद्र उमड़ पड़ा फलतः आपने आचार्य श्री क्षुल्लक दीक्षा के लिये प्रार्थना की; उसी समय आचार्य श्री ने सहर्ष स्वीकृति प्रदान कर दी; अतः आपने माघ शुक्ला पंचमी को विशाल जन समुदाय के बीच में आचार्य श्री के कर कमलों द्वारा क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की।

(७) दीक्षा के बाद उत्तर प्रदेश में आपने मुजफ्फरनगर, शामली, कैराणा, कांदला, शाहपुर आदि शहरों में आचार्य श्री के साथ साथ विहार किया। रात्रि के समय उक्त नगरों में जो आपका प्रभावशाली प्रवचन होता था उससे प्रभावित होकर हजारों जैन, अजैन बन्धुओं ने लाभ उठाया। कई भाईयों ने पंच अणुव्रत और अष्ट मूल गुण ग्रहण किये और सप्तव्यसनों का त्याग किया।

कर्मवशात् आपको उत्तर प्रदेश की जलवायु माफिक नहीं होने से शारीरिक व्यथा रहने लगी; जिसका उपचार भी किया गया लेकिन उसमें सफलता नहीं मिली; फलतः वहां के

वैद्यों के परामर्शानुसार आपको, गुरु चरणों के सान्निध्य से वंचित होकर आचार्य श्री की आज्ञा लेकर सीकर (राजस्थान) के लिये पैदल विहार करना पड़ा करीब ३०० मील पैदल चलकर आप सीकर पहुंचे। सीकर में कुछ दिन धर्म प्रभावना करते हुये, कुचामन समाज की प्रार्थना से आपने कुचामन नगर में चतुर्मास किया; वहाँ पर भारी धर्म प्रभावना हुई, आपके प्रभावशाली प्रवचनों से प्रभावित होकर, वहां की जैनाजैन जनता ने अनेक व्रतोपवासादि धारण कर अपना मानव जन्म सार्थक किया। आपके द्वारा कुचामन समाज का जो जनहित हुआ है वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। चतुर्मास की समाप्ति के बाद आपने विहार करते हुये अपने जन्म स्थान लाडनूं नगर में पदार्पण किया, उस समय का अद्भुत दृश्य देखते ही बनता था; हजारों स्त्री-पुरुष इस मङ्गलमय पुण्य-वेला में सम्मिलित हो अपने भाग्य की सराहना करते थे। लाडनूं नगर में आपने लगभग तीन मास विराजकर, प्रवचनादि के द्वारा जनता में जो जागृति उत्पन्न की, वह इतिहास के स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी। फिर यहां से विहार करके आपने सुजानगढ़ में मङ्गलमय पदार्पण किया।

सुजानगढ़ में करीब ३ मास रहकर आपने जन-जीवन में एक नई क्रांति का सञ्चार किया। श्री झूमरमलजी बगडा के शब्दों में (जैन गजट वर्ष ८२, अङ्क २३ से उद्धृत) "धर्म के प्रति समाज में व्याप्त शिथिलता को दूर करने के आपके गंभीर

प्रयासों के फल स्वरूप समाज के विचारों में आश्चर्यजनक परिवर्तन आया, फलतः सैंकड़ों व्यक्तियों ने सप्तव्यसनों का त्याग करके, यज्ञोपवीत धारण कर नियमित रूप से शास्त्र-स्वाध्याय करने का नियम लिया है एवं अनेक भाई बहनों ने अष्टमूलगुण एवं पंच अणुव्रत ग्रहण किये हैं। करीबन ७५ व्यक्तियों ने रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग किया है। अनेकों ने आजीवन तास चौपड़ न खेलने का नियम लिया है। कुछ व्यक्तियों ने श्री जिनेन्द्र भगवान् का रोजाना पूजन करने एवं आजीवन एक वक्त आहार करने का संकल्प किया है। सुजानगढ़ के इतिहास में इस प्रकार विशाल पैमाने पर सामूहिक रूप से व्रत नियम एवं संकल्प लेने का यह प्रथम अवसर है।

वर्तमान युग को देखते हुये, दिगंबर जैन समाज में धार्मिक भावनाओं की जागृति करने के लिये वास्तव में ऐसे ही साधु संतों द्वारा इसी प्रकार उपदेशों की आवश्यकता है। वक्ता में निर्भीकता एवं परोपकार की भावना बलवती होने से ही जनता पर प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है।

सुजानगढ़ से विहार करके आप राणोली नगर के मान स्थम्भ वेदी प्रतिष्ठा के शुभावसर पर पधारे। स्मरण रहे कि इस मान स्थंभ की नींव करीब ४ साल पहले आचार्य धर्म सागरजी महाराज के सान्निध्य में आपके ही सत्प्रयत्न से लगी थी। यहां पर आपके द्वारा लोगों में धार्मिक प्रवचनों द्वारा

विशेष प्रभावना हुई।

राणोली से विहार कर आप कोछोर ग्राम पहुंचे; वहां पर जो आपके द्वारा धार्मिकजनों का हित हुआ, वह कभी नहीं भुलाया जा सकता। कोछोर के मंदिरजी की वेदी में कुछ कमियां थीं, उन सबको ठीक करवाके पुनः वेदी प्रतिष्ठा बड़ी धूमधाम के साथ करवाई तथा कोछोर में ही आपके द्वारा श्री चन्द्र प्रभ दिगम्बर जैन विद्यालय की स्थापना भी हुई। इस तरह से अनेक मङ्गलमय जनहित के कार्यों को करते हुये आप वहां से विहार करके सीकर समाज के भारी आग्रह से सीकर में ही चतुर्मास करने के लिये पधारे। यहां पर आपके द्वारा सुबह और शाम को प्रवचनों में हजारों जैनाजैन लोग आकर धर्मामृत का पान कर अपने को धन्य समझते थे।

वास्तव में सीकर में आपके द्वारा जो धर्म की प्रभावना हुई है वह स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है आपही के द्वारा एक नहीं अनेकजनों ने भगवान् की नित्यनियम पूर्वक पूजा, प्रक्षाल करने का संकल्प किया है करीब १३० भाई बहिनों ने आजीवन रात्रि में चारों आहारों का त्याग किया है तथा कई जनों ने आजीवन एक बार भोजन करने का नियम लिया है। बहुत से भाईयों ने यज्ञोपवीत ग्रहण करके तथा अभक्ष्य-भक्षण का त्याग करके अपने को सन्मार्ग में लगाया है। सैंकड़ों ही प्राणियों ने आपके द्वारा सप्त व्यसन का त्याग कर अष्ट मूलगुणों को ग्रहण

किया है। आज समाज में इन बातों की बड़ी आवश्यकता है, इतना ही नहीं आपके ही द्वारा समस्त सीकर जैन समाज ने यह निर्णय किया है कि सीकर समाज, सामूहिक भोजनों में रात्रि को पेय और सूखे मेवों के अतिरिक्त अन्नादि का कोई भी भोजन न करेगा और न करावेगा तथा सामूहिक भोजनों में, कंद मूल की साग सब्जी भी काम में नहीं लेंगे।

आज समाज में यदि इसी प्रकार का नियन्त्रण प्रत्येक शहरों में और गांवों में हो जाय तो जैन समाज का भविष्य उज्ज्वल हो जायेगा।

आपके ही द्वारा इसी चतुर्मास में एक बाई ने भाद्रपद मास में ३२ उपवास करके अपूर्व धर्म प्रभावना की तथा अनेक भाई बहिनों ने आठ आठ, दस दस उपवास करके अपने जन्म को सफल किया; इन सब धार्मिक प्रभावनाओं का श्रेय आपको ही है फिर चतुर्मास की समाप्ति पर समाज ने तीन लोक मंडल का विधान कराके धर्म की ध्वजा को फहराई।

चतुर्मास समाप्ति पर ही जब आपने नई पिच्छिका ग्रहण की तो सीकर के ही श्री मोहनलालजी ने ग्यारह हजार में बोली लेकर एक रिकार्ड कायम किया; इन बातों से पाठकगण समझ सकेंगे कि सीकर समाज में आपने धार्मिक जागृति का अनुपम एवं आदर्श कार्य किया।

सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह हुई कि आपके प्रवचनों से प्रभावित होकर सीकर समाज ने दिगं. जैन आचार्य धर्म सागर व्रती आश्रम की स्थापना की जिसमें समाज ने तत्काल १ लाख रुपयों का ध्रुव फण्ड कायम करके इस सत्कार्य को प्रारंभ किया, ऐसा अभूतपूर्व कार्य करके, सीकर जैन समाज ने अपना ही नहीं बल्कि समस्त राजस्थान का गौरव बढाया है। हर्ष है कि इसमें त्यागी एवं विद्वान् पं. विद्याकुमारजी सेठी न्याय काव्य तीर्थ सरीखे कमठ एवं कार्य कुशल अधिष्ठाता होने से आश्रम की महती शोभा बढ गई है।

स्थानीय धार्मिक युवक श्री हुकमचंद्रजी सेठी के सहयोग से तत्काल करीब १५० छात्र-छात्राओं को धार्मिक शिक्षण भी नित्य प्रति दिया जाता है; अन्य राजकीय विद्यालय तथा महाविद्यालयों में धार्मिक शिक्षा की आज कमी सी हो गई है उसकी पूर्ति के लिये आश्रम ने एक बहुत आवश्यक कदम उठाया है।

वास्तव में इस युग में इस प्रकार के निर्भीक आर्षमार्गानुयायी प्रखर वक्ताओं की अत्यन्त आवश्यकता है जो जन-साधारण को प्रभावित करके, उन्हें आर्ष मार्ग के सन्मुख कर सकें।

मुझे क्षुल्लकजी महाराज के विषय में ऐसा प्रतीत हो रहा है कि आपके द्वारा जैन धर्म की अपूर्व प्रभावना होने वाली है; आपकी दिनचर्या, अध्ययन शीलता, गुरुभक्ति, मार्ग प्रभावना, तेजस्विता को देखकर मैं बहुत ही प्रभावित हूं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप इसी प्रकार स्व और पर का कल्याण करते हुये जैन धर्म का गौरव बढायेंगे और हमारे लाडनूं नगर की शोभा को दिग् दिगंत व्यापिनी करेंगे।

विनीत :—

पं. रामप्रसाद शास्त्री

शास्त्री-कुटीर, लाडनूं

आद्य वक्तव्य

केवल ध्वनि के अंश से, रच्यो ग्रंथ यह सार ।
मनन करो त्रियोग से, निश्चय होय सुधार ।।

गत वर्ष कुचामन—चतुर्मास में मैंने जिस मानव—मार्ग-दर्शन का संकलन किया था उसकी जैन व जैनेतर जनता में लोक-प्रियता एवं उपयोगिता देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। कई विद्वानों ने मुझे मानव—मार्ग—दर्शन के द्वितीय भाग को लिखने के लिये विशेष आग्रह किया; फलतः मैंने इस ओर सतत जागरुकता पूर्वक प्रयत्न जारी रखा। वास्तव में मैं कोई विशेष विद्वान् नहीं हूं लेकिन गुरुओं के आशीर्वाद प्रभाव से ही मैंने इस ओर आगे बढने का साहस किया है। मेरा यह दृढ विश्वास है कि ससार से निःस्पृह महापुरुषों के वचनों के द्वारा ही मानव का कल्याण हो सकता है। उन महापुरुषों के वचनों को ही आधार स्थम्भ मानकर मैंने सरल एवं सर्वसाधारण के लिये उपयुक्त भाषा में इस ग्रन्थ का संकलन किया है। इस प्रयास में जो भी अच्छापन है वह तो गुरुओं की कृपा का फल है और इसमें जो भी त्रुटियाँ रही हैं यह मात्र मेरा प्रमाद समझकर विद्वज्जन सुधार के मार्ग का प्रदर्शन करें।

मैं इस बात को मानता हूं कि महापुरुषों के रचे हुये अनेक ग्रन्थराज उपलब्ध हैं; किन्तु उनमें बड़े २ विद्वानों की ही गति

हो सकती है। साधारण व्यक्ति उससे विशेष लाभ नहीं उठा सकता अतः इसी बात को लक्ष्य में रखकर मैंने महापुरुषों के ही वचन रूपी नन्दनवन से इन अवतरण रूपी पुष्पों को चुन चुन कर यह मनोहर ग्रन्थमाला गूंथी है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ के द्वारा जन जन का हित होगा।

आज संसार में जो अत्याचार, अनाचार का बोल बाला है वह मात्र अधर्म का ही फल है; यदि मानव मानवता ग्रहण करते हुये असदाचार को छोड़कर सदाचार को ग्रहण करे तो वह स्थायी सुख और शान्ति को प्राप्त कर सकता है अर्थात् दूसरे शब्दों में मानव से महामानव और नर से नारायण बन सकता है।

यद्यपि धर्म और अधर्म की लड़ाई सदा से चली आ रही है तथापि अन्ततः अधर्म की हार और धर्म की विजय ही होती है अतः मानव मात्र का कर्तव्य है कि अधर्म को छोड़कर धर्म को अंगीकार करें।

क्षुल्लक सिद्धसागर
(लाडनूं वाला)

सम्पादकीय

संसार में अध्यवसाय व लगन उन्नति का मूल है; इससे मानव, कल्पनातीत उन्नति कर सकता है; इस बात को पूज्य १०५ श्री क्षुल्लक सिद्धसागरजी महाराज ने अपने जीवन से लोक के सामने उपस्थित किया है। परम पूज्य योगिसम्राट् १०८ श्री आचार्य धर्मसागरजी महाराज की अलौकिक तपश्चर्या का ही फल है कि उन्होंने पूज्य क्षुल्लकजी सिद्धसागरजी महाराज सदृश शिष्य रत्न का निर्माण किया; ऐसे योग्य त्यागियों से ही समाज का उत्थान हो सकता है।

पूज्य क्षुल्लकजी सिद्धसागरजी महाराज इस युग के एक आदर्श व विद्वान् तपस्वी हैं; इन्होंने अपने साधारण धर्मामृत उपदेशों से सर्वाङ्गीण उन्नति करते हुये अनेक भव्यों का उद्धार किया है।

आपने अपने जन्म से राजस्थान के लाडनूं नगर के नाम को अलंकृत किया है। आपके पिता श्री मांगीलालजी जैन अग्रवाल व माता श्री मोजीदेवी धन्य हैं, जिन्होंने ऐसे पुत्र रत्न को जन्म देकर, जैन समाज का गौरव बढाया है।

आपके सदुपदेशों से प्रभावित होकर बड़े २ पंडित भी मुग्ध हो जाते हैं क्योंकि आपकी वचन-वर्गणा में मानवों के

कल्याण हेतु ही आर्षमार्ग से युक्त तेज झलकता है; आपकी भाषण-प्रतिभा, शान्त व गभीर मुद्रा के सामने चाहे जैन हो या अजैन; सभी के मस्तक झुकते हैं। आपके सदुपदेश से प्रभावित होकर हजारों की संख्या में धर्मात्मा बंधुओं ने सप्त व्यसनों का त्याग, पंचाणुव्रतों का पालन तथा अष्टमूलगुणों का ग्रहण किया है। आपका जहाँ जहाँ विहार हुआ है वहाँ वहाँ पर जो धर्म प्रभावना हुई है व हो रही है वह इतिहास के पृष्ठों में स्वर्ण-वर्णों में चिरकाल तक अंकित रहेगी।

आपके प्रवचनों से प्राणी मात्र का हित हो रहा है, विशेषकर मनस्वी मानवों के लिये समीचीन मार्ग प्रदर्शक अनेक अत्युपयोगी विषयों से स्वचित तत्वों का भी दिग्दर्शन होता है। वास्तव में प्राणी मात्र के कल्याण की निरीह भावना आपके हृदय में रहती है। आपका जीवन बड़ा ही शान्त है; आप वीतराग परिणति अथवा समीचीन दृष्टि और उदात्त भावना से ओत प्रोत व लोकोत्तम जीवन के सहचर हैं। आपका व्यक्तित्व महान् है और प्रज्ञा विवेकशालिनी है; आपकी पदार्थ विवेचना गम्भीर, मृदु, मधुर और सरल भाषा में होती है।

आपके ही द्वारा गत वर्ष कुचामन-चतुर्मास में जन-हितकारी जो अनुपम ग्रन्थ रत्न की रचना की गई उस मानव मार्ग दर्शन से जैन एवं अजैन सभी धार्मिक बंधुओं का बड़ा हित हुआ है। वास्तव में इस मानव मार्ग दर्शन से साधारण से साधारण

व्यक्ति भी बहुत प्रभावित हुये हैं और वे मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं। देश में दूर दूर से विद्वज्जनों की इस मानव मार्ग दर्शन के लिये प्रशंसा सूचक सम्मति प्राप्त हुई हैं। जिनमें से कुछ महानुभाव विद्वानों के नाम देना जरूरी समझता हूँ; वह निम्न प्रकार है :—

१. श्रीमान् पं. डॉ. लालबहादुरजी शास्त्री P. H. D. संपादक 'जैन दर्शन' देहली।

२. श्रीमान् पं. वर्धमानजी पार्श्वनाथजी शास्त्री शोलापुर संपादक "जैन गजट"

३. श्रीमान् पं सुमेरचंद्रजी दिवाकर B. A., L.L. B. सिवनी (M. P.)

४. श्रीमान् पं. डॉ. पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर (M. P.)

५. श्रीमान् ब्रह्म पं. रतनचंद्रजी साहब मुख्त्यार सहारनपुर (U P.)

६. श्रीमान् पं. तेजपालजी काला–नांदगांव सह सम्पादक "जैन–दर्शन"

७. श्रीमान् ब्रह्म पं. कपिल भाई कोटडिया B. A., L. L. B. हिम्मतनगर (गुजरात)

८. श्रीमान् पं. रमेशचन्द्रजी जैन P. H. D. बिजनोर (यू. पी.)

६. श्रीमान् पं. दरबारीलालजी जैन शास्त्री, ललितपुर (यू. पी.)

१०. श्रीमान् पं. रामप्रसादजी शास्त्री, लाडनूं (राजस्थान)

११. श्रीमान् पं. पातीरामजी जैन शास्त्री, टूंडला (यू. पी.)

१२. श्रीमान् प्रतिष्ठा भूषण पं. लाडलीप्रसादजी पापडीवाल सवाई माधोपुर (राजस्थान)

१३. श्रीमान् पं. मोतीचंद्रजी शास्त्री, हस्तिनापुर (यू. पी.)

१४. श्रीमान् पं. महेन्द्रकुमारजी अजमेरा प्रभाकर, पचेवर (राजस्थान)

१५. श्रीमान् सेठ भागचंद्रजी साहब सोनी, अजमेर।

१६. श्रीमान् पं. सेठ अगरचंद्रजी नाहटा, बीकानेर।

१७. ,, सेठ हरकचन्द्रजी पांड्या, कलकत्ता।

१८. ,, ,, भागचंदजी पाटनी, कलकत्ता।

१९. ,, ब्रह्म सेठ चतुर्भुजजी अजमेरा, पांचवा।

२०. ,, सेठ हरकचंद्रजी पांड्या, कुचामन।

२१. ,, ,, ऋखबचंद्रजी पहाडिया, ,, ।

२२. ,, ,, सोहनलालजी पहाडिया, ,, ।

२३. श्रीमान् सेठ आनंदप्रकाशजी जैन, सौरभ (यू. पी.)

२४. ,, ,, नेमीचंद्रजी बाकलीवाल, सुजानगढ़।

२५. ,, ,, हुलासमलजी पांड्या, ,,

२६. ,, ,, झूमरमलजी बगडा, ,,

२७. ,, ,, जयचंदलालजी पाटनी, लाडनूं।

२८. ,, ,, झूमरमलजी बगडा, ,,

२९. ,, ,, छगनलालजी पाटनी, मणिपुर (इंकाल)

३०. ,, ,, रामदेवजी पाटनी, धूबडी (आसाम)

३१. ,, ,, डूंगरमलजी जैन अग्रवाल, फारबीसगंज (बिहार)

३२. ,, ,, मूलचंद्रजी छाबड़ा, उज्जैन

३३. ,, ,, उप जिलाधीश महोदय माणकचंद्रजी साहब जैन, सीकर (राजस्थान)

३४. श्रीमान् डाक्टर के. सी. जैन, सीकर (राजस्थान)

३५. ,, रूपचंद्रजी पाटनी M. A. प्रधानाध्यापक हायर सैकेण्ड्री स्कूल, मारोठ (राजस्थान)

ऊपर लिखे हुये महानुभावों के अतिरिक्त और भी अनेक विद्वानों एवं प्रतिष्ठित सज्जनों के अभिमत प्राप्त हुये हैं। वास्तव में इस ग्रन्थ की लोकप्रियता एवं समादरणीयता इसी बात से

सिद्ध होती है कि १५०० प्रतियां जो प्रथमावृत्ति में प्रकाशित हुई थीं वे थोड़े ही दिनों में वितरित हो गई फिर भी धर्म बंधुओं की मांग बराबर जारी रही, फलस्वरूप १००० प्रतियां और छपवानी पड़ी। यह लिखते हुये हृदय आनंद से ओतप्रोत हो जाता है कि पूज्य क्षुल्लकजी महाराज ने अपनी प्रगति जारी ही नहीं रखी बल्कि उसे एक बहुत ही अधिक गौरवशाली एवं गंभीर रचनात्मक रूप देकर इस मानव मार्ग दर्शन के द्वितीय भाग को भी हम सभी के कल्याणार्थ लिखकर असीम उपकार किया है। जिस भाई ने प्रथम भाग का स्वाध्याय या चिंतन मनन किया है उसको इस द्वितीय भाग में एक अलौकिक आनंद धारा में निमग्न होने का सौभाग्य प्राप्त होगा। आपके दैनिक प्रवचनों में जो ओजस्वितापूर्ण, निर्भीकतायुक्त एवं आर्ष मार्ग का पोषण होता है वे ही आपके हृदय के समीचीन उद्‌गार इस ग्रंथरत्न में जड़े गये हैं; ये रत्न अनूठे हैं, जीवन में स्फूर्ति लाने वाले हैं, जीवन की दिशा को एकदम नया मोड़ देने वाले हैं; आगम के शब्दों में सम्यक्त्व के सम्मुख करने वाले हैं।

इस ग्रन्थ में जो गम्भीर शास्त्रीय रचनाओं का सरलत्तम सर्वसाधारण के समझने योग्य, निचोड रखा गया है वास्तव में वह बड़ा कलापूर्ण कठिनतम कार्य है। इसमें कहीं पर भी किसी प्रकार का पंथ व्यामोह दृष्टि गोचर नहीं होता; न किसी प्रकार का दुराग्रह और किसी को नीचा दिखाने की दुर्भावना ही लक्षित होती है, इस प्रकार के कार्य का श्रेय भी पू. क्षुल्लकजी सिद्धसागरजी महाराज को ही है।

आपका जीवन लक्ष्य स्व कल्याण के साथ ही साथ प्राणी-मात्र को सन्मार्ग में लगाने का है। आप हमेशा प्रवचन में भी यही कहते हैं कि "मानव सर्वप्रथम मानवता ग्रहण करें, भगवान् बनने के स्वप्न पीछे देखें" ठीक है; चित्त की शुद्धि हुये बिना स्वात्मरस की स्थिति नहीं हो सकती। आज राष्ट्र के बड़े २ नेता भी यही पुकार पुकार कर कहते हैं कि यदि मानव अपने पूर्वजों की संस्कृति से मानवता के गुणों को अङ्गीकार करना सीखले तो विश्व शान्ति की समस्या को हल करने में बड़ा भारी सहयोग प्राप्त हो सकता है; अन्यथा दानवता के प्रसार की महती आशङ्का है; अस्तु।

पूज्य क्षुल्लकजी महाराज के हम सभी अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने अत्यन्त परिश्रम करके जैन समाज का ही नहीं अपितु समस्त मानव मात्र का कल्याण करने की ओर एक आदर्श मार्ग को उपस्थित किया है। यह ग्रन्थ हर पुस्तकालयों में एक विशेष ग्रन्थ बने और आज के युग की समस्यापूर्ति का स्थायी हल सिद्ध कर सके; यही हमारी शुभकामना है। वैसे देखा जाय तो इस ग्रन्थ का मुख्य लक्ष्य संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति कराकर, समीचीन मार्ग की ओर सन्मुख कराना है फिर भी पाठकों की सुविधा के लिये इसको पांच विषयों में विभाजित किया गया है जो कि विषय सूची में उल्लिखित है। ग्रन्थ की उपादेयता के अतिरिक्त व्रतियों का संरक्षण ज्ञानार्जन तथा

भोजनादि की व्यवस्था के साथ ही साथ बालक और बालिकाओं के धार्मिक संस्कारों की अभिवृद्धि के लिये आपकी ही प्रेरणा से दिगं. जैन आचार्य धर्मसागर व्रती आश्रम की स्थापना जो सीकर में हुई है यह संस्था भी आपके अनुपम सुझावों व अहर्निश संरक्षणात्मक कार्यकाल में उज्ज्वल प्रगति कर सकेगी। ऐसी पूर्ण आशा ही नहीं बल्कि अगाध विश्वास भी है।

विनीत :—

"विद्याभूषण' सिद्धांतभूषण

पं० विद्याकुमार सेठी

न्याय काव्य तीर्थ अधिष्ठाता

श्री दिगं. जैन आचार्य धर्म सागर

व्रती आश्रम, सीकर

आभार प्रदर्शन

हम सीकर वासियों के परम सौभाग्य वश श्री १०५ श्री क्षुल्लक सिद्धसागरजी महाराज लाडनूं वालों का चतुर्मास इस वर्ष हमारे यहाँ हुआ है; आप विशेष रूप से अपनी साधारण एवं प्रभावशाली शैली में प्रतिदिन सुबह और शाम दोनों समय हजारों जैनाजैन बन्धुओं को मुक्ति के सच्चे मार्ग से अवगत कराते हैं। वास्तव में आपकी प्रवचन शैली इतनी सुन्दर और प्रशंसनोय है कि श्रोतागण मन्त्रमुग्ध हो निस्तब्ध एकाग्रचित्त होकर बड़े ध्यान पूर्वक सुनते रहते हैं।

आपकी कथन शैली इतनी अपूर्व है कि बड़े २ जिनागम के रहस्य सरल भाषा में कहे जाने के कारण समस्त श्रोताओं के हृदयों गें सांसारिक भोगों से अरुचि उत्पन्न होकर, सन्मार्ग की ओर प्रवृत्ति हो जाती है। हमें बड़ी प्रसन्नता है कि श्री क्षुल्लकजी महाराज ने मानव मार्ग दर्शन के द्वितीय भाग को यहीं पर लिखकर संपन्न किया है; जिसे आद्योपान्त पढ़कर पाठक, महाराज श्री के अथक परिश्रम का लाभ उठा सकेंगे जिन २ भाईयों ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्थिक सहायता देकर इसे प्रकाशित कराया है उन सबके नाम निम्न प्रकार हैं :—

उन सबके हम बहुत आभारी हैं।

१. १००० ग्रन्थ श्री दिगं. जैन समाज, सीकर।

२. १००० ग्रन्थ स्थानीय श्री महावीरप्रसादजी माणकचंद्रजी जयपुरिया ने अपने पूज्य पिताजी श्री भैंरुबक्सजी की पुण्य स्मृति में।

३. १००० ग्रन्थ स्थानीय श्री मोहनलालजी जयपुरिया ने अपनी धर्मपत्नी श्रीमती जमनादेवी के दशलक्षणव्रतोद्यापन के उपलक्ष्य में।

४. १००० ग्रन्थ सुजानगढ़ निवासी स्वर्गीय श्री सोहनलालजी काला की धर्मपत्नी श्री मैनाबाई ने दशलक्षणव्रतोद्यापन के उपलक्ष्य में।

इस तरह उपरोक्त महानुभावों ने इस पुण्य कृति के प्रकाशन में सहयोग देकर सर्व साधारण के हितार्थ अनुपम आदर्श कार्य किया है।

महाराज की यह देन सम्पूर्ण मानवों का कल्याण करेगी और जैना गम के रहस्य को जन साधारण समझ सकेंगे ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है। इस परम लाभकारी, शुभ निमित्त के उपस्थित होने के कारण हम सब महाराज के प्रतिकृतज्ञता प्रकट करते हैं।

आपके इस वर्षा योग के कारण यहाँ के समस्त समाज को जो धर्म लाभ मिला है वह चिरस्मरणीय रहेगा।

परम हर्ष का विषय है कि आपकी प्रेरणा से ही दिगं. जैन

आचार्य धर्मसागर व्रती आश्रम की स्थापना हमारे यहाँ सीकर में हुई है जिसमें आर्षमार्गानुयायी व्रतीगण ज्ञानार्जन करते हुये धर्मध्यान पूर्वक अपने व्रतों का सोत्साह पालन कर सकेंगे। हमें यह पूर्ण विश्वास है कि आपके कुशलतापूर्वक तत्वावधान में यह 'व्रती आश्रम' राजस्थान की ही नहीं बल्कि समस्त भारत वर्ष की शोभा बढायेगा और जैन धर्म का अनुपम प्रकाश करेगा।

इस चतुर्मास में आपकी वैयावृत्ति में और व्यवस्था में जो कुछ भी हम लोगों से त्रुटियां रह गई हैं उन सबके लिये हम करबद्ध क्षमा चाहते हैं और श्री जिनेन्द्र भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि आप चिरकाल तक पूर्ण आरोग्य पूर्वक अपने रत्नत्रय धर्म का पूर्णतया पालन करते हुये अपना और मानव मात्र का कल्याण करते रहें; हम आशा करते हैं कि हमें आपका कल्याणकारी आशीर्वाद सदैव प्राप्त होता रहेगा।

विनीत :—

समस्त दिगम्बर जैन समाज

सीकर (राजस्थान)

॥ श्री वर्धमानाय नमः ॥

मंगल स्तवन

सुध्यान में लवलीन हो जब घातियां चारों हने ।
सर्वज्ञ बोध, विरागता को पालिया तब आपने ॥
उपदेश दे हितकर, अनेकों भव्य निज सम कर लिये ।
रवि ज्ञान किरण प्रकाश डालो वीर ! मेरे भी हिये ॥

(वीर स्तवन)

स्याद्वादनय, षट द्रव्य, गुण पर्याय और प्रमाण का ।
जड़-कर्म चेतन बन्धका अरु कर्म के अवसान का ॥
कहकर स्वरूप यथार्थ, जगका जो किया उपकार है ।
उसके लिए जिनवाणि ! तुमको वन्दना शतवार हैं ॥

(जिनवाणी स्तवन)

धरि कवच संयम, उग्र ध्यान कठोर असि निज हाथले ।
व्रत समिति, गुप्ति, सुधर्म भावन वीर भट भी साथले ॥
पर चक्र-राग-द्वेष हनि, स्वातन्त्र्य निधि पाते हुये ।
वे स्व-पर तारक गुरु-तपोनिधि, मुक्ति पथ जाते हुये ॥

(गुरु स्तवन)

॥ श्री ॥

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

॥ ॐ ॥

॥ श्री महावीराय नमः ॥

卐 मानव-मार्ग-दर्शन 卐

(द्वितीय भाग)

卐

मंगला—चरण

श्री आदि-वीर जिनेन्द्र को, बार-बार शिरनाय ।
संग्रह मानव-मार्ग का, करूं स्व-पर सुखदाय ॥

॥ ॐ वीतरागाय नमः ॥

मानवता का आदर्श

१. वीतराग भगवान् द्वारा प्रणीत शास्त्र के मथन से अलौकिक ज्ञान की प्राप्ति होती है; जैसे दधि मंथन से नवनीत की। मानव की परीक्षा, श्रुत, शील, कुल और क्रिया से होती है। अतः सदाचार के बिना मानव, मानव कहलाने का अधिकारी नहीं होता।

२. अपने व्यवहार, आचरण, वाणी व अन्य किसी प्रकार से किसी भी प्राणी के मन को व्यथित नहीं करना चाहिये अर्थात् किसी के हृदय में आघात पहुंचे, ऐसी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। संसार में सत्सङ्गति सुवासित सुमनों का हार है जिसकी सौरभ जन-जन के हृदय को सुवासित करती है।

३. मानव का कर्त्तव्य है कि वह प्राणी मात्र के साथ सद्व्यवहार करे। जो व्यवहार अपने को अच्छा नही लगे वह दूसरों के साथ करना उचित नहीं। वास्तव में भगवान् महावीर का यही तो दिव्य सन्देश है कि "जीवो और जीने दो" इससे बढकर दूसरा कोई धर्म नही; अतः प्राणी मात्र को अपनी आत्मा के समान समझो।

४. जिस मानव के वचन में मधुरता और सत्यता, मन में मृदुता भावना में भव्यता, हृदय में सौहार्द नयन में परीक्षा और समीक्षा बुद्धि में मुमुक्षा, चिन्तवन में चेतनता, दृष्टि में विशालता, व्यवहार में कुशलता और अन्त:करण में पवित्रता है, वही वास्तव में मानवता का पात्र है। जिसका विवेक शिक्षा मन्त्री और साहस गृहमन्त्री है, उसको दूसरों की चापलूसी से क्या मतलब ?

५. हे भव्य प्राणियों ! यमराज रूपी व्याघ्र छाया के समान निरन्तर पीछे लगा रहता है, न जाने कब, कहाँ और किस समय अपना ग्रास बना लेगा। इसका कोई विश्वास नहीं है। अत: हर समय सावधान रहो और आत्महित का उद्यम करो।

६. संसार में मानव की सुन्दरता उसके सद्गुणों से होती है। जैसे वृक्ष की सुन्दरता शाखाओं से होती है। वास्तव में मानव और दानव में इतना ही फर्क है कि मानव अपने सदाचार एवं धार्मिक भावना से मानव कहलाने का अधिकारी है। अगर मानव में असदाचार और अधर्म का बोल बोला है तो वही मानव दानव बन जाता है।

७. मानव धर्मप्रीति निश्छलता और आत्मीयता के रस का अनुपान कर निर्भय और निष्पाप बन जाता है। जैसे बीज के नष्ट होने पर अंकुर प्रस्फुटित होता है वैसे ही अहङ्कार के नाश होने पर ज्ञान का अंकुर प्रस्फुटित होता है।

८. मानव का कर्त्तव्य है कि वह अपने मन से किसी का बुरा विचार ना करे तथा वचन से कटु शब्दों का उच्चारण नहीं करना

चाहिये और काय से किसी भी प्राणी का घात नहीं करना चाहिये। फलतः मन, वचन, कर्म को सरल करना चाहिये। क्योंकि इनकी कुटिलता आत्मा के लिए कर्म-जाल बुनती है और उसमें जीवों को फंसाकर दुर्गति में ढकेल देती है।

९. वास्तव में मन, वचन और काय को वश में करने से ही मानव महामानव बन सकता है। मन, वचन और काय के चलायमान होने से मानव दानव का रूप धारण करता है।

१०. मानव की शोभा सदाचार से है, शारीरिक सौन्दर्य और धन से नहीं। जैसे स्त्री की शोभा शील से है आभूषण और सौन्दर्य से नही। उसी तरह धन की शोभा त्याग से है ग्रहण से नहीं।

११. संसार में मोह एक उन्मादजनक विलक्षण मदिरा है जो प्राणियों को विवेकहीन बना देती है। अतः मानव उन्मत्त हो जाता है और अपने स्वरूप को भूल जाता है।

१२. आचार्यों ने बताया है कि प्राणियों के शुभराग प्रातःकालीन लालिमा के समान है, जिसके आगे केवल ज्ञानरूपी सूर्य का प्रकाश होता है तथा अशुभराग संध्याकालीन लालिमा है जिसके आगे मिथ्यात्वरूपी घोर अन्धकार रात्रि छायी हुई है। इन दोनों के अलावा विराग एक झिलमिलाता हुआ परमानन्द का विकास है जिसमें आत्मा अपनी आत्मा में मग्न रहता है।

१३. यशोभिलाषा बढ़ती हुई नदी का वेग है जिसमें सर्वधन बह जाता है। संसार के प्राणी अपनी नामवरी (यश) के लिए रात-दिन एक करते रहते हैं। परन्तु इतना नहीं जानते कि आत्मा का तो

कोई नाम है ही नहीं। शरीर का नाम है जो नाशवान् है जिसको परिजन मिलकर खाख कर देंगे फिर भला नाम किसका।

१४. इस विकट संसार में दुराग्रही प्राणी अपने कदाग्रह को नहीं छोडना चाहते हैं। जैसे काली स्याही से लिप्त कागज पर दूसरे अक्षर अंकित नहीं होते, ठीक उसी तरह हठी दुराग्रही पर बडे-बडे साधु-महात्माओं का भी असर नही पड़ता।

१५ हठग्राही प्राणियों के हृदय में रागद्वेश की भीषण ज्वालाएँ धधकती रहती है जैसे ज्वालामुखी पर्वत में। आचार्यों ने उन्हें नर पिशाच की उपाधि (टाइटिल) दी है। क्योंकि उनके हृदय में अंजनगिरि के समान कलुषित विचार धारायें निकलती रहती है।

१६. वास्तव में धर्म कोई दिखावटी वस्तु नहीं होता है। धर्म प्राणियों के हृदय की भाषा में बोलता है। अतः उसमें सहजता उभरती है। आज लोग धर्म के नाम से चिढते हैं, कतराते हैं जिसका कारण उन लोगों ने धर्म के मर्म को जाना ही नहीं।

१७ मानवों की व्याकुलता (अपध्यान) एक प्रकार की बडवानल है। जिसकी द्वेषरूपी अग्नि मे मन सरोवर उत्तप्त हो जाता है अथवा नगर की नाली है जिसमे पापरूपी जल आकर आत्मारूपी वस्त्र को मलीन करता है।

१८. प्राणियों का रोष (क्रोध) अरण्य की अग्नि के समान है जिसमें संयम, शील, तप गुणरूपी वृक्ष भस्म हो जाते हैं।

१९. सन्तोषी प्राणी का मन शीतल जल के प्रवाह के समान है जिसमें

कर्म रज धुल जाते हैं और आत्मारूपी वस्त्र धुलकर निर्मल बन जाता है। सच तो यह है कि सन्तोष ही आत्मा की परम निधि है जिसके बल पर प्राणी अपने इष्टस्थान (मोक्ष) तक पहुंच जाता है। फिर अपने आत्मीय सुख में अनन्त काल तक सुखी रहता है।

२०. आत्म साधना के बल पर मानव, महामानव बन सकता है। साधना ही सिद्ध की हुई वस्तु है जिसमें प्राणी परम शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

२१. मानव के मन की आकुलता एक प्रलय काल की वायु है जिससे मन सरोवर चंचल हो जाता है। फिर मानव अपने को सम्भालने में असमर्थ हो जाता है। उस आकुलित मनरूपी फूटे घड़े में तत्त्व श्रद्धान रूपी अमृत ठहरता नही।

२२. मानव को चाहिये कि समस्त प्रकार के वैरभाव का परित्याग करके सम्पूर्ण उपद्रव शून्य एवं महान् बनने का प्रयत्न करे। अन्तर बाहर सभी के प्रति प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण एक परम शान्तिमय वातावरण की सृष्टि करे। उसमें समस्त प्राणी अव-गाहन कर शुद्ध, शान्त और आनन्दमय हो जाएँ।

२३. संसार में वे सत्पुरुष धन्य हैं, जिन्होंने धर्म ध्यान के बल से शुक्ल ध्यान रूपी हाथी पर आरूढ होकर व्रतरूपी कंकण, ज्ञानरूपी पगडी, शीलरूपी कण्ठा, सम्यग्दर्शन रूपी कवच को धारण कर गुप्तिरूपी तीन छत्र से सुशोभित समिति रूपी श्वेत चामरों से मंडित होकर तपरूपी बाण से संसार के कारणों का नाश किया

और जो हमेशा के लिए सुखी हो गये।

२४. मानव जन्म को पाकर जिन्होंने अपने जीवन को भोगों में व्यतीत किया वे मानव कैसे हैं ? जैसे कोई मनोज्ञ हाथी को सुसज्जित कर इन्धन ढोता हो, अथवा अमृत को प्राप्त कर उससे पैर धोता हो तथा चिन्तामणि को पाकर काग उड़ाने के लिए फेंक देता हो।

२५. संसार में प्राणी कहता और जानता तो बहुत है परन्तु करता है बहुत कम। मानव का जानना और कथन करना तभी सार्थक हो सकता है, जब वह उसे अपने दैनन्दिन जीवन में तदनुसार कर्म और साधना के द्वारा व्यावहारिक रूप दे सके। अन्यथा कहना और जानना केवल निरर्थक ही नहीं वरन् जगत के कूड़े कचरे के ढेर के समान पीड़ादायक एवं लज्जास्पद है। अतः हे भाई ! तुम अपने जानने और कहने को वास्तविक रूप देने के लिए सचेष्ट हो जावो।

२६. हे भाई ! करनी के बिना कथनी वैसी ही है, जैसे जल के बिना कुवा। अर्थात् आंखों के बिना मुंह शोभा नहीं देता।

२७ समार में लौकिक अन्धकार को नाश करने के लिए सूर्य, चन्द्रमा रत्नमणि, दीपक आदि अनेक पदार्थ हैं। परन्तु हृदयस्थ अज्ञान अन्धकार को दूर करने के लिए भगवद् वाणी का अभ्यास ही समर्थ है। अतः सतत प्रयत्न के द्वारा महान् पुरुषों की वाणी का अध्ययन करना चाहिये।

२८. स्वाध्याय से सिंचित चित्तरूपी निर्मलभूमि में उत्तम क्षमादि बीज

को प्राप्तकर अनुकम्पाशील सौजन्य, उदारता, समता, सरलता, निश्चलता, निश्छलता आदि के अंकुर उत्पन्न होते हैं। साम्यभाव के जलबिन्दु से आप्लावित होकर रत्नत्रयरूपी पुष्पों से पुष्पित हो जाती है। पुष्पों में अनन्त सुख शान्ति के गुण संयुक्त मुक्ति रूपी फल की प्राप्ति होती है।

२९. अहो देखो ! अनादिकाल से आत्मा मोहरूपी मदिरा का पान करके अपने आपको भूल गया है। अतः दीन हीन होकर पर-मुखापेक्षी बनकर अपनी विभिन्न ऐहिक एषणाओं की पूर्ति के लिये जन जन की शरण खोजता है, यह सब अज्ञान का ही अचिन्त्य महात्म्य है।

३०. मानव का कल्याण साधुत्व में है, स्वादुत्व में नहीं। जीवन गुलाब के फूलों की शय्या नहीं वरन् कंटकों की झाड़ी है। संसार में रुलाने वाले राग द्वेष और मोह हैं।

३१. ये संसार के प्राणी आत्मविस्मृति के कारण अनादि काल से अनन्त सांसारिक पीड़ाओं की विकृत ज्वालाओं में झुलस रहे हैं। अगर अपने आत्मस्वरूप की पहचान करे तो इस विकट संसार की ज्वालाओं से बच सकते हैं।

३२. सचमुच में मानवों का भोजन वस्तु का स्वभाव, रत्नत्रय धर्म हैं। क्योंकि इस रत्नत्रय से ही आत्मा पुष्ट होती है और उसमें अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य की उत्पत्ति होती है।

३३. मानव को संसार में बारम्बार चिन्तन करने पर यही सारभूत

वस्तु प्रतीत होती है कि मानव जन्म प्राप्त करके स्वतत्त्व की पहिचान करके स्व और पर के कल्याण करने का उद्यम करना चाहिये।

३४ जो महाभाग जन्म, जरा और मृत्यु को नाश कर अजर-अमर त्वपद के कारणभूत भगवान् के वचनों पर विश्वास करते है अर्थात् पाप कर्मों से डरते रहते हैं वे इस संसार में महान् हैं।

३५. संसार में याचना के बराबर कोई लघुता नहीं। याचना न करना ही गुरुता की जड़ है। जो प्राणी दीन होकर किसी से याचना करते हैं वे अपने गौरव को नष्ट करते हैं।

३६. जिसके परिणामों में सन्तोष नहीं है जो आशा तृष्णा से जकड़ा हुआ है वास्तव में वहीं दरिद्र है। संसार में सन्तोष ही सर्वोपरि जीवन का गुण है।

३७ ख्याति, पूजा, लाभादि की इच्छा न करके जो दान दिया जाता है वही वास्तविक दान है। इसके अलावा जहाँ दान देते वक्त ख्याति प्रतिष्ठा की इच्छा है वहाँ सचमुच में दान का अस्तित्व ही नहीं। आवश्यकतानुसार समय पर दिया हुवा दान करोड़गुणा फल देता है।

३८. वास्तव में सांसारिक पदार्थों की तृष्णा ही विषम कर्म रूप फल देने वाली लता है। ज्ञानी प्राणियों को प्रयत्नपूर्वक उसे सन्तोषरूपी कुल्हाड़ी से उखाड़ देना चाहिये।

३९. राग द्वेष को जीतने वाले महापुरुषों ने बताया कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान चरित्र ही मोक्ष मार्ग है। इस मार्ग पर चलने वाले अपने

अन्तिम ध्येय मोक्ष में पहुंच जाते हैं।

४०. संसार में निर्भीक और दृढश्रद्धानी मानव वही है जो पूर्व पापोदय में घबराता नहीं है; अपितु साहस के साथ साम्यभावों से उन कर्मों को सहन कर जाता है। अपने परिणामों में कलुषिता नहीं होने देता है। ऐसे प्राणी ही मनोबली आत्मबली कहलाते हैं।

४१. मानसिक और शारीरिक दु:ख दावानल में संतप्त प्राणियों के लिये एक धर्म ही शान्तिदायक है। वैराग्य सम्पन्न संसार के भोगों में अनासक्त अहिंसक मानव ही आदर का पात्र होता है।

४२. संसार में जो अपने को शास्त्रज्ञ बताता है परन्तु शास्त्रोक्त मार्ग पर नहीं चलता है, वह उल्लू के समान है जो शास्त्ररूपी सूर्य के उदित होते हुए भी आत्महित का मार्ग नहीं अपनाता है।

४३. संसार में विषय वासनारूपी उन्मार्ग में ले जाने वाले मनरूपी घोड़े को वश में करने के लिए श्रुत ज्ञान रूपी लगाम लगाने वाला पुरुष ही सन्मार्ग पर आ सकता है।

४४. संसार में मानव वही है जिसके हृदय में गम्भीरता, व्यवहार में सरलता तथा दूसरों के दु:ख में अनुकम्पनशीलता और अपने दु:ख में सहनशीलता हो। वास्तव में परस्पर सद्भावना सहानुभूति तथा सच्चे प्रेम पर निर्भर करती है।

४५. जो प्राणी अन्तरङ्ग में काम, क्रोध, ईर्ष्या, घृणा, तृष्णा, मायाचारादि कुभावनाओं से युक्त हैं वह प्राणी बाहर में चाहे जितना तपादि क्यों न करे परन्तु वह सद्ध्यान का पात्र नहीं हो सकता

है, क्योंकि सद्ध्यान में अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकार की उज्ज्वलता कार्यकारी है।

४६. संसार में जिनका मन दुस्तर आशारूपी जल में नहीं डूबता है उनके ही ज्ञान रूपी वृक्ष फलते हैं। जो निरन्तर दूसरों के अवगुण और अपने गुणों को देखता है, संसार में वही सबसे बड़ा मूर्ख है।

४७. इस भयानक संसार में आत्मदर्शन, आत्मबोध और आत्म-निमग्नता रूप रत्नत्रयचक्र ही मृत्यु से बचाने के लिए समर्थ हैं। आत्मतत्त्व को जानना ही वास्तविक ज्ञान है। जीवों के प्रगाढ रागद्वेष और भय ही भयंकर शत्रु हैं।

४८. पूर्वोपार्जित कर्मों के उदय में घुटने टेकने वाले गिरते हैं और उनका सामना करने वाले उटते हैं। अर्थात् आगे बढते हैं। मानव जब तक साम्यभाव को नहीं अपनाता है तब तक उसकी आत्म-शक्ति का विकास नहीं होता है।

४९. संसार में रहते हुए भी संसार की मोहमाया में मत फंसो। संसार-सरिता के अगाध जल में मन-नौका रहते हुए भी उस मनरूपी नौका में संसार-सरिता के मोहमाया रूपी जल को भीतर मत आने दो।

५०. वास्तव में रागद्वेष मोह आदि की भयंकर लहरों से व्याप्त इस संसार सिन्धु में ज्ञानी जन निमग्न न होकर तटस्थ होकर आपत्तियों से बच जाते हैं।

५१. परिग्रह पिशाच को त्याग करके कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना ही मानव जन्म का सार है। इस आत्मरूपी दीपक में

मोह रूपी तेल नष्ट होते ही कर्म रूपी उजाला समाप्त हो जाता है।

५२. संसार में पारिवारिक कलह गृहस्थ सुखों को भस्म कर देती है। देखो, दुर्जन अग्नि के समान अपने आश्रित को ही जला देता है।

५३ वास्तव में इन्द्रिय लम्पटी मानव इस लोक में दुःख का भाजन होता है तथा पाप वासनाओं से मलिन चित्त वाले प्राणी दुःखमय संसार में भ्रमण करते रहते हैं। इसी तरह से कर्त्तव्य च्युत प्राणी दुर्गति में जाने के लिए पापों का संचय करते रहते हैं।

५४. संसार में जो स्वतः दोषी हैं, वे दूसरों के दोषों का परिमार्जन नहीं कर सकते हैं। जिनका आचरण शुद्ध है, वे व्यक्ति दूसरों के सामने आदर्श बन सकते हैं। अशुद्ध प्रवृतियों के रहते हुए मानव कल्याणकारी प्रवृत्तियों को नहीं कर सकता है।

५५. महापुरुषों के व्यक्तित्व को निखारने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे तो स्वतः ही निखरे हुए रहते हैं। वास्तव में महापुरुष के चरण जिस ओर बढ़ते हैं वही मार्ग है तथा जो कहते हैं वही शास्त्र है और जो करते हैं वही आदर्श कर्त्तव्य बन जाता है।

५६. संसार में आत्मतत्त्व की उपलब्धि देवेन्द्र चक्रवर्त्ती आदि के वैभव से बढकर है। आत्मतत्त्व की दृष्टि से सम्पन्न साधक के मानस में भीति नहीं रहती है। वास्तव में आत्मश्रद्धा रूप हृदय, ज्ञान रूप मस्तक और आचरणरूप हाथ की एकता से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

५७ हे भाई ! कपटरूपी कटार से किसी का गला मत काटो, यह

कपट प्राणियों को दुर्गति में ले जाने में सहायक है। संसार में जो प्राणी दूसरों के लिए गड्ढा खोदता है वह खुद कुए में गिरता है। अर्थात् जो दूसरों के लिए कांटा बोता है वह खुद शूली पर चढता है।

५८. संसार में क्रोधरूपी अग्नि को बुझाने के लिए क्षमारूपी जल ही समर्थ है, तथा मानरूपी पर्वत को भेदने के लिए मार्दव भाव ही वज्र के समान है।

५९. आत्मानुभूति होने से स्व पर विवेक की ज्योति चमकने लगती है। जबकि मात्सर्यभावना से आत्मिक गुण नष्ट हो जाते हैं।

६०. संसार में प्राणियों के ज्ञानावरणादि कर्म बादल के दूर हो जाने से केवल ज्ञानरूपी सूर्य का प्रकाश प्रकट हो जाता है अर्थात् कर्मरूपी शत्रु की सेना आत्मानुभवशस्त्र से जीती जा सकती है।

६१. सत्पुरुषों की वाणी से हृदय नेत्र खुल जाते है। जिसके हृदय में सत्पुरुषों की वाणी ने प्रवेश नहीं किया, वह वास्तव में अन्धा है।

६२. वास्तव में प्राणियों की कुसङ्गति शैतान का जाल है, जिसमें फंसकर प्राणी अपना सर्वस्व खो देता है। जबकि सत्सङ्गति एक सुन्दर सुवासित पुष्पों का हार है। जिसकी सुगन्धी मे जन-जन का हृदय सुवासित होता है।

६३. यदि हम किसी का उपकार न कर सकें तो अपकार कभी न करें। यदि हम किसी को अमृत न पिला सकें तो जहर भी न

पिलावें। यदि हम किसी के रास्ते में फूल न बिछा सकें तो कम से कम कांटे तो न बिछावें।

६४. इस संसार में ज्ञानी प्राणी को सभी ज्ञानी दिखते हैं। अर्थात् सम्यग्दृष्टि को सभी सम्यग्दृष्टि दिखते हैं जिसकी दृष्टि में दूसरे लोग मिथ्यादृष्टि हैं वास्तव में वही मिथ्यादृष्टि है।

६५ एक बार एक व्यक्ति बोला कि महाराज हम धर्म को नहीं मानते है। मैंने पूछा, भाई ! यदि आपके सिर पर कोई लाठी मार दे, तो आप उसे क्या कहोगे ? वह बोला हम उसे बुरा कहेंगे। तब मैंने कहा-हम इसे अधर्म कहेंगे। पुनः मैंने पूछा यदि आपके घाव पर कोई मरहम्म पट्टी कर दे तो उसे आप क्या कहोगे ? वह बोला-हम उसे अच्छा कहेंगे तब मैंने कहा-उसे ही हम 'धर्म' कहेंगे।

६६. कई व्यक्ति नई और अच्छी वस्तुओं को स्वीकार करने में संकोच करते हैं। जैसे एक गांव में बहुत पुराना खारे पानी का कुआ था। सब लोग उसी कुए का पानी पीते थे। जब कुछ लोगों ने मिलकर मीठे पानी का कुआ खोद दिया तो वे व्यक्ति बोले कि हमारे पूर्वज खारे पानी को ही पीते आये हैं अतः हम मीठा पानी कैसे पीयें ? वास्तव में यह रूढीवादी धारणा गलत है।

६७. वास्तव में हत्यारे और डॉक्टर के चाकू चलाने में अन्तर हैं। दोनों चाकू चलाते हैं, परन्तु दोनों के मन में भाव अलग अलग हैं। एक विनाश के लिए चाकू चलाता है जबकि दूसरा भलाई

के लिए। इसी नाश और कल्याण की भावना से प्राणी अशुभ और शुभ कर्मों का अर्जन करते हैं।

६८. वास्तव में मानव के मन में कषाय रूपी रावण बैठा है। उसी रावण को जलाने से यथार्थ में सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र की प्राप्ति होती है। केवल कागज का रावण जलाने से कुछ होने वाला नहीं है। अर्थात् जब तक मन की कलुषित भावनाओं को नहीं जलाया जावे, तब तक संसार में ऐसा कोई धर्म नहीं है जो प्राणी को संसार की दु:खद यातनाओं से बचा सके।

६९. अज्ञान रूपी हाथी पर स्वाध्याय रूपी अंकुश है। स्वाध्याय के बिना प्राणी अज्ञानवश यथार्थता को न जानकर धर्म के प्रति यद्वा तद्वा बोलता है।

७०. वास्तव में देखा जावे तो श्रम का परिणाम थकान है और तप का परिणाम आत्मा का उत्थान है।

७१. यदि ज्ञान अल्प हो किन्तु मोह नहीं हो तो प्राणी मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

७२. मानव के लिए आचरण में अहिंसा, वाणी में स्याद्वाद और मन में समय सार श्रेयस्कर है।

७३. समीचीन पुरुषार्थ के द्वारा प्राणी कर्मों का क्षय तथा बोधि लाभ कर सकता है तथा अनन्त भव-चक्र से मुक्त हो सकता है।

७४ वचनों के उचित व्यवहार से प्राणी सुखी जीवन का निर्माण

कर सकता है।

७५. चारित्र के बिना कोरे ज्ञान और दर्शन से मुक्ति मानना भ्रम ही है। जैसे एक पंख से पक्षी उड़ नहीं सकता।

७६. वास्तव में स्वाध्याय करने से जीवन जीने की कला आती है। अन्यथा यह आत्मा यात्री के समान देह रूपी सराय में रूककर अवधि बीतने पर चला जाता है।

७७. सुख, दुःख, स्वर्ग, नरक हमारे स्वयं के शुभ अशुभ कर्मों के फल हैं। दूसरों को दोषी बताना अज्ञान है।

७८. मानव यदि पशु के समान विवेक शून्यता से क्रोध, मान, माया और लोभादि विकारों के वशीभूत होकर पतन का रास्ता अपनाता है तो नारकीय जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता है। यदि संयम और संतोषादि को जीवन में स्थान देता है तो यहीं स्वर्ग के समान सुख का अनुभव होता है। वास्तव में स्वर्ग और नरक का परिचय प्रत्यक्ष इसी जन्म में हो सकता है।

७९. संसार में वही सम्यग् साहित्य है जिसके द्वारा प्राणी हेय-उपादेय का ज्ञान प्राप्त करके जीवन को कल्याणकारी मार्ग पर ले जावे। आज वर्तमान में जो विषयों को पोषण करने वाले साहित्य का प्रचार हो रहा है उसे ग्रहण करने से आत्महितैषियों को बचना चाहिये।

८०. सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत और उसी परम्परा में आचार्यों, मुनियों, ऋषियों एवं साधु-सन्तों द्वारा जिस साहित्य की रचना की

गई है, वह इसलिए प्रामाणिक है कि वह ज्ञान, अनुभव और वीतरागता पर आधारित है। यही सम्यग् साहित्य की निर्दोषता तथा कल्याणकारिता का प्रमाण है।

८१. सत्साहित्य का अध्ययन भी तभी सार्थक है जब वह जीवन में उतरे। वास्तव में श्रद्धा और आचरण से युक्त ज्ञान ही कार्यकारी होता है। भारतीय इतिहास मे चाहे अल्प ज्ञानी हों चाहे विपुल ज्ञानी, उनकी पूजा या उपासना करने का लेख तो मिलता है। परन्तु जो परिग्रह से सुसज्जित तथा अव्रती हों उनके द्वारा ज्ञान का उपदेश दिये जाने पर उनकी पूजा उपासना करने का उदाहरण कहीं नहीं मिलता है।

८२. आज यदि हम प्राचीनता का ढोल पीटते हुए युवकों को तिरस्कृत करते रहेंगे तो समाज और देश का कल्याण नहीं हो सकता। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने युवकों के समक्ष अपने प्राचीन सिद्धान्तों को प्रस्तुत करें तो युवा पीढ़ी इसे अवश्य ही स्वीकार करेगी।

८३. वास्तव मे प्राणियों में मानव ही सर्वाधिक उपद्रवी है। क्योंकि वह दूसरों के लगाम लगाता है, पिंजरे में डालता है तथा उन पर शासन करना चाहता है। परन्तु अपनी इन्द्रियों पर लगाम नहीं लगाता। यदि कोई मानव इन्द्रिय संयम पूर्वक अपने पर शासन करता है तो वह आत्मा से परमात्मा बन सकता है।

८४. वास्तव में आत्मा सत्य है, शाश्वत है। इस विश्वास के साथ

जो मानव आत्मा की खोज में लगता है, वही वास्तव में सच्चा आस्तिक है।

८५. अनादि काल से आत्मा अपनी भूल के कारण कर्मों के भार से दबा हुआ है और उस भार को पर पदार्थों में आसक्ति करता हुआ गुरुत्तर करता जाता है जितना जितना इन कर्मों का भार गुरुत्तर होता है उतनी उतनी ही यह आत्मा नीचे दबती जाती है।

८६. प्राणी अगर चाहे तो घड़ी से शिक्षा ले सकता है। जैसे जो मिनट, क्षण, पल चला जाता है वह फिर नहीं आता है। अतः बीते हुए समय के लिए पश्चाताप न करके आगे के लिए फुरसत की घड़ी की प्रतीक्षा न करके व्यस्तता से ही समय निकाल कर अपने आत्म हित हेतु एकाग्र होकर प्रयत्न करना चाहिये।

८७. मानव जीवन में विनय गुण एक अमूल्य निधि है। ज्ञान का गर्व अन्तर के अज्ञान का द्योतक है। गुणीजनों और बड़ेजनों के प्रति आदर होना विनय नाम का गुण है।

८८. विनय गुण लौकिक तथा व्यावहारिक जीवन में उपयोगी तो है ही, किन्तु वह लोकोत्तर मार्ग में भी श्रेयस्कर है। जिन व्यक्तियों में आत्मदृष्टि है अथवा आत्मगुण है, वे व्यक्ति साधुजनों के प्रति नतमस्तक एवं श्रद्धायुक्त हुए बिना नहीं रहते हैं।

८९. वे मानव धन्य हैं जो मानव मात्र में सौहार्द और आदर की

भावना रखते हैं। खेद की बात है कि आज इस आधुनिक युग में गुरुजनों तथा माता-पिता के प्रति भी आदर भावना का लोप होता जा रहा है। जिसका मुख्य कारण विनयगुण का अभाव है।

९०. यदि पुरातन संस्कृति को कायम रखना है तथा धर्म को सुरक्षित रखना है तो शीलव्रत ही इसमें सहायक है। शील-व्रत से ही हमारी संस्कृति और धर्म सुरक्षित रह सकता है। आज राष्ट्र में सरकार परिवार-नियोजन के लिए बड़ी जी तोड़ कोशिश कर रही है। अगर इस परिवार-नियोजन को सफल बनाना है तो शीलव्रत को अपनाने से सहज में ही हल हो सकता है।

९१. वास्तव में मल की खान शरीर के स्पर्श से गंगा का पवित्र जल भी मलिन हो जाता है। परन्तु ज्ञानरूपी गंगा के शीतल जल से आत्मा को पवित्र एवं निर्मल बनाया जा सकता है।

९२. वास्तव में ज्ञान आत्मा का निजी स्वभाव है। यह प्राणी मात्र में पाया जाता है। आज मानव अपने इस स्वभाव को भी भूल गया है और विषय भोगों की ओर इतना झुक गया है कि अपनी आत्म परिणति को खो बैठा है।

९३. वास्तव में जीवन की शोभा तो पवित्र संस्कारों से ही होती है। भक्ष्याभक्ष्य का विवेक सुसंस्कारिता के लिए परमावश्यक है।

९४. आगम ज्ञान के बिना कोरा कठोर तप भी कार्यकारी नहीं।

वह ज्ञान शास्त्र, स्वाध्याय से प्राप्त हो सकता है।

९५. लोग कहते हैं कि "भरतजी घर में ही वैरागी" इसका अर्थ यह नहीं कि भोग विलास में लिप्त रहते हुए भी आत्मज्ञान १०५६ हो सकता है। वास्तव में भरतजी का जीवन जल में कमलवत् निर्लिप्त और विषय-भोगों के प्रति आसक्ति से रहित था। प्रत्येक व्यक्ति भरतजी नहीं बन सकता

९६. संसार में जो जन्म लेता है, वह मरता है। यह बात प्रायः सभी कहते हैं। परन्तु विरले प्राणी ही मृत्यु के समय महोत्सव मनाते हैं जो निरन्तर तत्त्वज्ञान रूपी अमृत का पान करते हैं, वे ही शारीरिक विपत्तियों में अविचलित रह सकते हैं अर्थात् मृत्यु समय पर जन्मोत्सव की तरह महोत्सव मनाते हैं।

९७. जो प्राणी सुख-दुःख में साम्यभाव रखते हैं। वे ही सच्चे आस्तिक हैं अथवा सम्यग्दृष्टि हैं साम्यभाव केवल जीने की कला ही नहीं सिखाता; किन्तु वह मरने की कला भी सिखाता है।

९८. यदि किसी ने क्षणभर भी आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त होकर मन, वचन और काय द्वारा आत्म चिन्तवन कर लिया तो वह अवस्था संसार से मुक्त होने में सहायक है।

९९. संसार में यह व्यावहारिक जीवन बड़ा टेढा है। परन्तु एक निश्चयात्मक जीवन ही सरल है। जैसे सर्प जब अपने बिलसे बाहर फिरता है तब टेढा चलता है; किन्तु जब बिल में वापिस

जाता है तो सीधा हो जाता है ।

१००. जहाँ वात्सल्य भाव है, वहीं धर्म है । परस्पर वात्सल्यभाव होगा तभी धार्मिक जनों की वैयावृत्ति होगी और धर्मात्मा व्यक्ति होंगे तभी धर्म रहेगा । मानव जीवन का सार तभी है कि जब निष्कपटता से वात्सल्य भाव और वैयावृत्ति को अपनाया जावे ।

१०१. संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसके अन्दर कोई दोष न हो । जिसमें दोष न हो, वह तो मुक्त परमात्मा है । हमें तो हर व्यक्ति के गुणों को ही देखना चाहिये तथा उन्हें ग्रहण करना चाहिये ।

१०२. गुण ग्राही होना संसार में अति कठिन है । प्रायः देखा जाता है कि गुणीजन भी एक दूसरे के दोष प्रकट करते रहते हैं तभी कषाय की उत्पत्ति होती है । दूसरे के दोषों को न देख कर अपने दोष देख ले तो मानव महामानव बन सकता है ।

१०३. परमात्मा तो निराकार और निरंजन रूप है । संसार के प्राणी उसे अनेक नामों से पुकारते हैं; परन्तु कोई फर्क नहीं पड़ता । जैसे दूध को अलग २ भाषाओं में भिन्न २ नामों से पुकारा जाता है । अंग्रेजी में Milk, (मिल्क) हिन्दी में दूध, संस्कृत में क्षीर, पर फिर भी दूध का रंग एवं स्वभाव और स्वाद एक ही है । इसी तरह से परमात्मा को चाहो जिस भाषा में पुकारो किन्तु उसमें जो निराकार निरजंनादि गुण हैं, उनमें फर्क नहीं होता है ।

१०४. वास्तव में परमात्मा तुम्हारे अन्दर भी है। फकत् अपने अन्दर से मिथ्यात्व, अज्ञानादि अवगुणों को हटा डालो तो स्वयं में ही परमात्मा के दर्शन होंगे।

१०५. प्रत्येक आत्मा में ज्ञान मौजूद है। जैसे सूर्य पर बादल आ जाने से अंधियां छा जाता है; उसी प्रकार कर्मरूपी मैल के आ जाने से ज्ञान पर आवरण आ जाता है।

१०६. आत्म दर्शन करने के लिए हमें नित्य भगवद् भक्ति तथा शास्त्र स्वाध्यायादि करना चाहिये।

१०७. मानव का दो नेत्रों को पाना तभी सफल है कि वह भले बुरे की पहिचान करके अच्छी बातों को ग्रहण करे और बुरी बातों को त्याग दे।

१०८. इस संसार में तत्त्वज्ञान भरा पड़ा है। जिसे आवश्यकता हो वह ग्रहण कर सकता है। इस तत्त्वरूपी गंगा में हर व्यक्ति अपनी आत्मा की प्यास बुझा सकता है।

१०९ सांसारिक प्राणी मोह के वश भोगों में फंस गया है। इसके निकलने का उपाय अगर कोई है तो आत्मदृष्टि ही है। अतः आत्म शुद्धि रखो और अपनी परिणात को सुधारो।

११०. मानव का कर्त्तव्य है कि अपनी आत्मा को जाने। अगर आत्मा को जान लिया तो समझो सब कुछ जान लिया।

१११. जिन वाणी रूपी अमृत को पीकर जिसने आत्म तत्त्व को नहीं जाना उसने वास्तव में वीतराग वाणी सुनी ही नहीं। लाखों करोड़ों ग्रन्थों का यही सार है कि यदि आप सुख चाहते हैं

तो आत्मानुभव करो। आत्मानुभव करने के लिए आपको सत् समागम मिलाना होगा तथा श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र को अपनाना होगा।

११२. इस दुःखमय संसार से पार होने का साधन धर्म ही है। परन्तु वह यथार्थ ज्ञान से संभव है। जो ज्ञान आत्मतत्त्व का बोध करा देवे, वास्तव में वही सम्यग् ज्ञान है। ससार में सभी वस्तुएँ सुलभ हैं, पर एक यथार्थ ज्ञान ही दुर्लभ है।

११३. धार्मिक जनों की परिणति प्राणी मात्र पर दयाभाव की ही रहती है। वे तो प्राणी मात्र का ही हित चाहते हैं।

११४. वास्तव में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग् चारित्र ही शाश्वत सुख का मार्ग है तथा आत्मा का स्वभाव है। आत्मा में ही उत्पन्न होता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने निजी भण्डार को देखें तो फिर किसी बात की कमी नहीं।

११५. जो व्यक्ति अपनी आत्मा के स्वरूप को नहीं समझते हैं और न समझने की कोशिश ही करते हैं वे अपनी आत्मा की वंचना ही करते हैं।

११६. मानव का कर्त्तव्य है कि प्राणी मात्र से मैत्री रखते हुए अपनी आत्मा में क्षमा धारण करे।

११७. संसार में मान और प्रतिष्ठा के लघु प्रश्नों को लेकर भाई भाई में बैर पैदा हो जाता है, समाज टुकड़ों में बंट जाता है तथा राष्ट्र में गृह-कलह के बादल मंडराने लग जाते हैं। इसी

मानव कषाय के कारण ही महाभारत में कौरवों के दुरभिमान का परिणाम रहा था। इसी के कारण रावण ने मरते दम तक अपनी बात को नहीं छोड़ी और सदा सदा के लिए बदनाम हो गया।

११८. संसार के प्राणी जाति, तप, ज्ञान, कुलादि किसी भी सांसारिक वैभव का मान करके अपनी अनन्त वैभवशाली आत्मा का घोर अपमान करते हैं।

११९. संसार में तीन प्रकार के स्वभाव वाले प्राणी होते हैं। (१) उपर से मुलायम और अन्दर से कठोर (२) उपर से कठोर और अन्दर से मुलायम (३) उपर अन्दर हर ओर से कोमल अंगूर के समान होता है। उसी में मानवता, साधुता आदि गुण होते हैं जो अन्तरंग और बहिरंग दोनों में मृदुल हो। वास्तव में ऐसे व्यक्ति ही आत्म कल्याण के पात्र हैं।

१२०. सरलता ही साधुता का लक्षण है। मायाचारी इहलोक में तिरस्कृत होता है और परलोक में दुर्गति का पात्र होता है। जैसे मकड़ी दूसरों के लिए जाल बनाकर स्वयं उसमें फंस जाती है।

१२१. संसार में वही प्राणी श्रेष्ठ है जो मायाचारी न होकर अपने अन्तरंग और बहिरंग में सरल परिणाम रखते हैं।

१२२. मानव को बाहर और भीतर अंगूर के समान बराबर रहना चाहिये। जो व्यक्ति खजूर की तरह उपर से मृदु तथा अन्दर से कठोर रहते हैं वे छल युक्त होकर पशु गति को प्राप्त

करते हैं।

१२३. मानव का कर्तव्य है कि उपरी व्यवहार से निष्कपटता और अन्तर में सरलता के धारण करके आत्म हित के मार्ग में आगे बढ़े।

१२४. संसार में वक्र शब्द विनाश का कारण बन जाता है। जैसे द्रोपदी ने कहा-"अन्धे के बच्चे अन्धे होते हैं" इन शब्दों ने महाभारत के युद्ध को जन्म दिया और १८ अक्षौहिणी सेना का नाश हो गया।

१२५. मन्दिर वीतराग भगवान् की दुकान है। वहाँ जाकर भी अगर प्राणी धन सम्पत्ति, पुत्र, पौत्रादि की वांछा करता है तो समझलो हीरा पन्ना और जवाहारात की दुकान पर जाकर कांच खण्ड की तलाश की समान ही हास्यास्पद है।

१२६. जब तक प्राणी अन्तरंग मैल की सफाई नहीं करता है तब तक उपरी मैल यानी शारीरिक स्वच्छता में अपनी उम्र क्यों न पूरी करदे। परन्तु उसका यह प्रयत्न स्नान के पश्चात् सिर पर धूल डालने वाले हाथी की तरह ही निरर्थक है।

१२७. उपरी शृंगार में इतना समय न लगाकर हमें अन्तर शोधन का कार्य करना चाहिये।

१२८. वास्तव में सत्य ही धर्म है। सत्य वही है जिससे शान्ति की स्थापना और सुख प्राप्त हो। यदि जिस सत्य के बोलने से कलह तथा अशांति होती है तो वहाँ मौन रहना ही ठीक है।

१२९. जिन्होंने सत्य धर्म का पालन किया वे इस संसार से मुक्त हो

गये। अतः दुनिया में सत्य ही श्रेष्ठ है और हमेशा सत्य की ही विजय होती है।

१३०. जो अन्तरंग से सत्य का पालन करते हैं, वे धन्य हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि सत्य का पालन करने वाला कभी बाहरी ढोंग से काम नहीं लेता।

१३१. संसार से सत्यनिष्ठ व्यक्ति की पग पग पर परीक्षा होती है। सत्य पालन के चारों ओर कांटे लगे हुए हैं परन्तु वे प्रयत्न पूर्वक अपने सत्य व्रत के लिए वे अडिग रहते हैं।

१३२. वास्तव में सत्य तो हर आत्मा में विद्यमान है, वह शाश्वत है; परन्तु कषायों के वशीभूत होकर मानव सत्य धर्म को छोड़ देता है।

१३३. वास्तव में सद्ज्ञान, दर्शन और क्रिया से युक्त निष्काम तप से ही आत्मा परमात्मा बन सकता है।

१३४. आजकल कई व्यक्ति तो दो चार शास्त्रों को पढ़कर तथा एकान्त सुनी सुनाई बातों के आधार पर संयमी और साधुओं को निरर्थक बताकर उछृंखलता को बढ़ावा दे रहे हैं अर्थात् अपनी आत्मा का पतन ही कर रहे हैं।

१३५. यदि हमारे विचारों में, आचरण में, निर्मलता नहीं है तो केवल तीर्थ यात्रा करने वालों से लाभ होने वाला नहीं है। तीर्थ यात्रा करने से तभी लाभ होगा जबकि इन बुराइयों को वहाँ जाकर त्याग करें।

१३६. वास्तव में अकिंचन धर्म आत्मा का स्वभाव है, जब मानव

इस उत्तम धर्म को समझ लेता है तब वह अपने को मोक्ष के समीप पाता है।

१३७ देखो अनादि काल से आज तक असंख्यात प्रदेशी आत्मा का एक प्रदेश भी पुद्गल रूप न हुवा और न होगा तथा कोई पुद्गल परमाणु आज तक आत्म रूप न हुवा और न होगा। परन्तु फिर भी अज्ञानी प्राणी पर पदार्थों को अपना मानकर आत्मवंचना करते रहते हैं। यह एक अज्ञान ही है।

१३८. जिनका भविष्य उज्ज्वल है वे हमेशा सोचते हैं कि मैं अकेला आया था और अकेला ही जाऊँगा। इस शरीर को भी यहीं छोड़कर जाऊँगा।

१३९. क्षमा वीर पुरुषों का एक अनोखा गुण है और वीर पुरुषों के सिर पर मुकुट की भांति शोभा देता है। अतः इस क्षमारूपी महामणि को महापुरुष ही धारण करते हैं।

१४०. क्षमा वही कर सकता है; जो शक्तिमान है। क्षमा का अर्थ सहन करना है। अतः क्षमाशील होने के लिए प्रथम क्रोधवृत्ति को शांत करना चाहिये। वास्तव में क्रोधी हिंसक होता है और क्षमावान् अहिंसक होता है।

१४१ प्राणियों को प्रायः क्रोध के समय विवेक और हिताहित का ज्ञान लुप्त हो जाता है और धैर्य रहित होकर उसका परिणाम नहीं सोचते हैं।

१४२. क्रोध में स्थिरता का अभाव है। यदि क्रोध को थोड़ी देर रोक लिया जावे तो उतना वेग शील नहीं रहता है।

१४३. यह एक मनोविज्ञान सम्मत बात है कि क्रोध के बाद पश्चाताप होता है, थकान, ग्लानि जैसे भावों का अनुभव होता है। परन्तु क्षमा के बाद चित्त में शांति, सुख और सन्तोष मिलते हैं।

१४४. अपना सामर्थ्य होते हुए भी अपकार को सहलेना क्षमा है। अतः "क्षमा वीरस्य भूषणम्" कहा गया है।

१४५. क्षमा के बाद शांति और क्रोध के बाद अशांति होना स्वाभाविक बात है। जैसे चूल्हे की ओर से आने वाली हवा गर्म और पानी की ओर से बहने वाली हवा शीतल होती है।

१४६. वास्तव में क्षमा में अविरोध सद्भाव है जो सब के साथ मैत्री भाव पैदा करता है। अर्थात् अज्ञानीजनों के दुर्व्यवहार को ज्ञानवान् क्षमा दृष्टि से देखते हैं।

१४७. संसार में यदि हमारे कोई शत्रु हैं, जिनसे हमें लड़ना है तो वे हैं राग, द्वेष और मोहादि।

१४८. साम्यभाव आत्मा का स्वभाव है। राग द्वेष को निःशेष करके ही उसे प्राप्त किया जा सकता है।

१४९. प्राणी कर्म कालिमा का बोझा अनादि काल से ढोता आया है। उस बोझ को उतारने के लिए मानव-पर्याय ही सुन्दर अवसर है।

१५०. संसार में रोग की चिकित्सा हो सकती है परन्तु मौत की नहीं।

१५१. मोहवश प्राणी घटती हुई आयु से भयभीत न होकर खुशी

मनाते है। वास्तव में धन और वैभव की वृद्धि तथा आयु का घटना दोनों ही दुःख और संताप के कारण हैं।

१५२. हमारा मानव जीवन तभी सफल और श्रेष्ठ है जब हम धर्म-मय जीवन व्यतीत करें। जो प्राणी आशा तृष्णा को छोड़ कर सन्तोष धारण करते हैं वे ही सुखी हो सकते है। जिन्होंने संसार में अत्याचार अनाचार किये उनकी अन्तमें दुर्गति हुई है।

१५३. वास्तव में आत्मा का गुरु आत्मा ही है। प्राणी अपने मन से पाप बांध सकता है तथा चाहे तो मन के द्वारा अपने विचारों को समीचीन करके पापों को धो भी सकते हैं।

१५४. संसार में प्राणी अकेला हो जन्मता है और अकेला ही मरता है परन्तु मोह के वश जिस पर्याय में जाता है वहाँ ही आपा मान लेता है और उसी शरीर में आशक्त होकर कर्मों का अर्जन करता रहता है। वास्तव में इसी का नाम अज्ञान है।

१५५. संसार में जिन्हें आत्म बोध हो जाता है, उनका व्यावहारिक जीवन भी निःसन्देह रूप से पवित्र ही होता है। यदि व्याव-हारिक जीवन में समता और सहिष्णुता नहीं है तो समझ लो कि आत्मबोध की बात करना भी शोभा नहीं देती।

१५६. संसार के प्राणियों ने यदि सब कुछ जान लिया, परन्तु अपने स्वरूप को यदि नहीं जाना तो वास्तव में उनका सब कुछ जानना बेकार है।

१५७. वास्तविक जानना तो यह है कि मैं अकेला ही आया था और

अकेला ही जाऊँगा। मैं एक हूँ, चिदानन्द स्वरूप हूँ, शरीर नहीं हूँ, मा-बाप, सगे-सम्बन्धी, पास-पड़ौसी, मित्र ये सभी श्मशान तक के साथी हैं। कोई भी मरते समय साथ देने वाला नहीं है। जो व्यक्ति ऐसा सोचते रहते हैं, वे निश्चय ही एक न एक दिन मुक्त हो जाते हैं।

१५८. इस असार संसार में जिन्होंने अष्ट-कर्मों का नाश कर दिया है अर्थात् अपनी आत्मा को पापों से बचा कर मोक्ष मार्ग में लगा लिया; वास्तव में वे ही शूरवीर हैं और वे ही महावीर हैं तथा वे ही रामचन्द्र हैं चाहे जिस नाम से उनका सुमिरन करो कोई फरक नहीं पड़ता।

१५९. यह चर्ममय शरीर मलमूत्र की खान है। इसको चाहे कितनी दफा क्यों न धोया जाए परन्तु यह स्वच्छ नहीं होता। इस नाशवान शरीर का शृंगार तो रत्नमयी हैं। चर्म धोने से कर्म नहीं धुलते।

१६० जब मृत्यु का समय आता है उस समय चाहे जितना प्रयत्न करो, परन्तु बचाने में असफलता ही मिलती है। उस समय बड़े बड़े चिकित्सकों का भी प्रयत्न निष्फल हो जाता है अर्थात् उनके लाख प्रयत्न करने पर भी मानव न स्वास्थ्यलाभ कर सकता है और न मृत्यु से ही बच सकता है।

१६१ इस संसार में शरीर से प्यार सभी करते हैं परन्तु खेद है कि अपनी आत्मा से प्यार करने वाले विरले ही होते हैं।

१६२. वास्तव में अपनी ही भूल से प्राणी संसार की जन्म-मरण

रूपी यातनाओं को सहता है।

१६३. संसार के प्राणी मिथ्यात्ववश चौरासी लाख योनियों में भटकते फिरते हैं और भयानक नारकीय दुःखों को सहन करते हैं। अगर एक दफा भी इस मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्वरूपी अमृत का पान करलें तो अनन्त संसार का अन्त आ सकता है।

१६४. जो प्राणी संकटों को समताभाव से सहन कर लेते हैं तथा वस्तु तत्त्व को जानकर डगमगाते नहीं हैं वे संसार से मुक्त होने का उपाय जान लेते हैं।

१६५. प्रत्येक आत्मा में अनन्त ज्ञान की शक्ति छिपी हुई है। अगर कोई भव्यात्मा समीचीन पुरुषार्थ के द्वारा तपस्या करके प्रकट करना चाहे तो सहज में ही प्राप्त हो सकती है।

१६६. मानव भव का सदुपयोग यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में लगाना ही श्रेष्ठ बात है।

१६७. जगत् का नाशवान् ज्ञान प्राप्त करने को तो मानव एड़ी से चोटी तक प्रयत्न करता है और फिर अपने को बुद्धिमान बताता है। किन्तु कभी यह नहीं जाना कि मैं कौन हूँ ? मुझे क्या प्राप्त करना है ? शरीर और आत्मा अलग अलग हैं। वास्तव में यह जाने बना सारा लौकिक ज्ञान बेकार है। सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति कठिन है। पर जो प्राणी इसको प्राप्त करने का प्रयत्न करे तो उनके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं।

१६८. मानव को मानवता अपनाते हुए अपने जीवन में कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिससे अपनी आत्मा का पतन हो तथा अन्य किसी प्राणी मात्र का तिरस्कार हो या किसी की हिंसा हो।

१६९. आज लोग धर्म के नाम से चिढ़ते हैं इसका कारण या तो यह है कि उनके किसी पाप का उदय है या वे बेचारे धर्म के यथार्थ स्वरूप को जानते ही नहीं हैं। वास्तव में वस्तु का यथार्थ स्वरूप ही धर्म है। धर्म कोई आसानी से प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है। उसके लिए हमें निरन्तर पुरुषार्थ करना होगा।

१७०. मानव जब तक धर्म को नहीं समझता है तब तक वह निर्मूल शंकाओं में फंसा हुआ यद्वा तद्वा बोलता है। यथार्थ में धर्म तो एक क्षण में हो सकता है। जिस क्षण प्राणी अपने कर्मों को नष्ट कर देता है उसी क्षण में धर्म है। परन्तु उन कर्मों को काटने के लिए व्रत, नियम, संयम. तपादि की निहायत जरूरत है।

१७१. वास्तव में किसी व्यक्ति विशेष ने धर्म नहीं बनाया। वह तो अनादि निधन अर्थात् स्वयं सिद्ध है। धर्मानु प्रेक्षा तो दर्पण है। उसमें देखने से आत्मा के उपर जो कर्म रूपी मेल बैठे हैं, उनका ज्ञान होगा। धर्म किसी सम्प्रदायवाद को नहीं बनाता। वह तो शास्त्रोक्त है एवं शाश्वत है।

१७२. धर्म तो सभी आत्माओं में स्थित है। अपनी आत्मा पर से

जो क्रोध, मान, माया और लोभादि को हटाकर के वीतराग वाणी पर श्रद्धा और आचरण करेगा वही धर्मात्मा है।

१७३. देखो ! सारी दुनिया को नाना प्रकार की चिन्ताओं ने घेर रखा है। परन्तु उन चिन्ताओं को घेरने वाले विरले ही हैं। जिन महात्माओं ने इन चिन्ताओं को घेर लिया है वे ही सिद्ध परमात्मा हैं।

१७४. सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का सम्यग् परिपालन ही मुक्ति का मार्ग है।

१७५. धर्म तो सरल और सीधा है। जहाँ पर विवाद और कलह है वहाँ नियम से अधर्म है। वस्तु का सही रूप में निर्विवाद रूप से जानना ही धर्म है।

१७६. जो विवाद या अपनी जिद्द का पोषण करते हैं, वहाँ पर तो कषाय है, धर्म कैसे हो सकता है ? जैसे किसी चक्षु रहित व्यक्ति का नाम नयन सुख हो अथवा किसी कुरूप व्यक्ति का नाम सुन्दरलाल हो। परन्तु उनमें यथा नाम तथा गुण नही होते। उसी तरह अगर कोई धर्म नाम पर लड़ता-झगड़ता है तो वहाँ भी धर्म नहीं है।

१७७. वास्तव में अलौकिक ज्ञान की प्राप्ति अनुभूति से होती है। अनुभूति तब होती है जब अनेकान्त स्याद्वाद् और तत्त्व दृष्टि-जो आगम प्रणीत है, उसे सम्यग् रूप से समझे और हृदयगम करें।

१७८. वास्तव में "मेरा सो खरा" की दृष्टि वाला प्राणी मिथ्या

दृष्टि है और इन्हीं गलत विचारों से कलह की उत्पत्ति होती है।

१७९. समीचीन ज्ञान के निर्मल जल में संस्कृति के कमल खिलते हैं। उस निर्मल जल में जो प्यासा मानव अपनी अंजलि बढ़ाता है उसे अमृत पीने को मिलता है।

१८०. प्राणी मात्र में वह असीम शक्ति मौजूद है, जिसके द्वारा प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है।

१८१. जो धर्म के प्रति उदास रहते हैं और जिन-वाणी में शंका रखते हैं, वे वास्तव में विद्वान् नहीं; अल्पज्ञ और अज्ञानी हैं।

१८२. जीवन में स्याद्वाद् दृष्टि को अपनाने से सभी द्वन्द्व समाप्त हो सकते हैं। वस्तुएँ अनन्त धर्मात्मक हैं। अतः एकान्त पक्ष को न पकड़कर अनेकान्त पर आस्था रखो।

१८३. संसार में सभी आत्माएँ समान हैं और खान में से निर्गत हीरे के समान हैं। अगर हम चाहे तो इस हीरे की कर्म रूपी कालिमा को साफ करके उसकी स्वभावगत चमक को प्रकट कर सकते हैं।

१८४. मानव भगवान् बनने की बातें करते हैं। परन्तु सबसे पहले उन्हें मानव बनना चाहिये। उन्हें अपने मन से अकस्मातादि सात भयों को निकालकर प्राणी मात्र को जीने देने के वातावरण में सहायक बनना चाहिये। यह सब स्याद्वाद दृष्टि से संभव है क्योंकि स्याद्वाद दृष्टि ही समन्वय और सहिष्णुता

की दृष्टि है।

१८५. संसार के सभी धर्म भगवान् महावीर के बताये हुए "जीवो और जीने दो" सिद्धान्त पर ही आधारित हैं। निश्चय दृष्टि से कोई अन्तर नहीं। अतः अपनी आत्मावत् सभी संसार के प्राणियों को समझो।

१८६. धर्म किसी व्यक्ति विशेष अथवा देश की बपौती नहीं है। यह तो विश्व के प्राणी मात्र के कल्याण का साधन है।

१८७. आत्महित के साधन के लिए काल की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि न जाने आयु का अन्त कब आ जाए और हमारा मनसूबा धरा का धरा ही रह जाए।

१८८. जिस तरह से मिट्टी का दीपक संध्या से लेकर लगातार प्रातः तक अन्धकार से लड़ता रहता है उसी प्रकार हमें भी जीवन भर अज्ञान रूपी अन्धकार से लड़ते रहना चाहिये। परन्तु हम तो आपस में ही लड़ते रहते हैं। एक दूसरे को मिथ्या दृष्टि कहकर तिरस्कृत करते हैं।

१८९. धर्म के प्रचार के लिए युवा पीढ़ी को आगे आना चाहिये। समय की पुकार है कि हमें स्वार्थ से उपर उठकर भगवान् महावीर के बताये अनुसार धर्म का प्रचार करना चाहिये।

१९०. प्राणियों को नाशवान् लक्ष्मी की पूजा न करके ज्ञान-लक्ष्मी की पूजा करनी चाहिये। वास्तव में ज्ञान-ज्योति ही सच्ची लक्ष्मी है।

१९१. कार्तिक कृष्णा अमावस्या को जब भगवान् महावीर को

केवल ज्ञानरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति हुई थी तब उपस्थित प्राणियों ने धन्य धन्य के नारे लगाये थे और भगवान् का गुणानुवाद किया था तभी से परम्परा के प्रवाह में लोग धन्य धन्य शब्दों का रूप धन की पूजा करने लगे।

१६२. आचार्यों ने मानव भव को सभी भावों से इसलिए श्रेष्ठ माना है कि मानव विवेकशील होता है और धर्म को धारण करके अपना आत्म कल्याण कर सकता है।

१६३. आज संसार को महा विनाश से बचाने के लिए अहिंसा ही समर्थ है। अहिंसा अणुव्रत में सभी व्रत गर्भित हैं; क्योंकि सभी का आधार प्राणी मात्र पर और अपने आप पर दया करना है।

१६४. "परस्परोपग्रह जीवानाम्" अर्थात् जीव एक दूसरे का उपकारी है। आचार्य उमास्वामी का यह बहुमूल्य सूत्र हमेशा जीवन में धारण करना मानव का परम कर्त्तव्य है। दया को पालन करने से ही मानव महामानव बन सकता है।

१६५ संसार में सभी धर्मों में दया को प्रधानता दी है। इसके बिना धर्म नाम की कोई सार्थकता ही नहीं।

१६६. हमारे देश की संस्कृति का मूलाधार अहिंसा तथा वीतरागता है। अतः हमें विविधता में एकता के दर्शन होते हैं। वास्तव में सुसंस्कारित जीवन ही स्व-पर कल्याण में सहायक होता है।

१६७. आज के मानव आधुनिक खान-पान और पहनावे को तेजी से अपनाते जा रहे हैं। लेकिन खेद है कि अपनी प्राचीन गौरव-

मयी संस्कृति का अध्ययन तक नहीं करते हैं।

१९८. आज मानवों का हर प्रयत्न विपरीत दिशा की ओर होता है। अपने शरीर को शृंगारित करने, विषय-वासनाओं को पोषित करने में ही जीवन खो रहे हैं। वास्तव में बन्धन से छुटकारा प्राप्त करने के लिए आत्मा को संस्कारित करना परमावश्यक है। क्योंकि अनादि काल से इन कर्मों के बन्धन में जकडा हुआ है।

१९९. देखो! गांधीजी ने मारने वाले व्यक्ति को हे राम! शब्द कहकर राम नाम का मेडल पुरस्कार में प्रदान किया था। हम मरते समय अपने जीवन भर के साथी पारिवारिक जनों को हाय-हाय का उपहार देते हैं अर्थात् स्वयं दुर्गति पाते हैं।

२००. धार्मिक शिक्षा का प्रारंभ बचपन से करना सही कदम है। क्योंकि युवावस्था, वृद्धावस्था में बचपन के सुन्दर संस्कार ही सु मार्ग पर चलाते हैं।

२०१. वास्तव में "खरा सो मेरा" कहने वाले पुरुष अपना उत्थान करते हैं, जबकि "मेरा सो खरा" की जिद करने वाले अपना पतन करते हैं।

२०१. आचार्यों ने बतलाया है कि कुछ प्रथाएँ (रीति-रिवाज) किसी समय आवश्यकता वश प्रारंभ हुई हों, वे यदि वर्तमान में हानिप्रद हों या अनुपयोगी हों तो उन्हें त्याग देना चाहिये।

२०३. मानव को विवेक से काम लेना चाहिये, जिससे परिणामों में निर्मलता और शान्ति मिल सके।

२०४. आज जो लोग पूजा-पाठ, व्रत-उपवास, भगवद् भक्ति आदि शुभ क्रियाओं को जड़ क्रिया तथा हेय बतलाते हैं, वे यह क्यों भूल जाते हैं कि वे स्वयं जड़ क्रिया के मोह में फंसे हुए हैं। शास्त्र के पन्ने, शब्द और यह साधन सभी तो जड़ हैं। जिनके आसरे वे अपने को परमशुद्ध दशा में देखना चाहते हैं।

२०५. सच तो यह है कि पदार्थ का निर्णय एकान्त से नहीं अनेकान्त से होता है अर्थात् अनेकान्त स्याद्वाद, सप्तभंगी सिद्धान्त मानव को परम विवेक सम्पन्न बना देता है।

२०६. सर्वथा एकान्त अथवा मिथ्या रूढिवाद को प्रश्रय नहीं देना चाहिये। वास्तव में अपेक्षावाद से सोचना, आचरण करना और विचार व्यक्त करना ही विवेक है।

२०७. हिंसा में कभी भी धर्म नहीं हो सकता है, चाहे वह किसी राष्ट्र अथवा धर्म तथा किसी भी देश काल में क्यों न प्रतिपादित की हो ?

२०८. वस्तु अनन्त धर्ममयी है। उन धर्मों को स्याद्वाद और अनेकान्त से परखा जाता है। किसी हठवाद से नहीं परखा जाता है।

२०९. इस संसार में कोई अन्धा है, कोई बहरा है, कोई पंगु है, कोई बीमार है। वास्तव में सभी प्राणी अपने अपने अशुभ कर्मों का फल भोग रहे हैं। अगर प्राणी इन कर्मों को बांधने का अपने आप को जिम्मेवार समझ लेता है तो अपनी आत्मा के कल्याण के लिए अवश्य ही सन्मार्ग पर चलने की दृष्टि

बना लेता है।

२१०. जिस प्रकार से नदी के इस किनारे से उस किनारे तक पहुंचने के लिए नौका का साधन होता है उसी प्रकार संसार से मोक्ष तक पहुंचने के लिए धर्मरूपी नौका की आवश्यकता होती है।

२११. अगर हम अपना कल्याण चाहते हैं तो हमें निरन्तर आत्म चिन्तवन, वाह्य-आभ्यन्तर सरलता, आत्म बोध तथा काम, क्रोध मोह के त्रिदोष से बचने का प्रयत्न करना होगा। तभी हमारा कल्याण संभव है।

२१२. अनेक शास्त्रों में निपुण, किन्तु आत्म-ज्ञान से शून्य विद्वान् से मोह रहित अल्पज्ञ हजार गुना श्रेष्ठ है।

२१३. वास्तव में सच्चा विद्वान तो वही है जो अपनी आत्म परिणति को सुधार कर आत्म हित कर लेता है।

२१४. आचार्यों ने ज्ञान की महिमा गाई है। अज्ञान मृत्यु है और ज्ञान अमरता। अज्ञान तिमिर है और ज्ञान आलोक। अज्ञान विष है और ज्ञान अमृत। अज्ञान का परदा रहते मानव सही बात को नहीं जान सकता। जैसे अन्धकार में चलने वाला व्यक्ति किसी कूप, बावड़ी, तालाब या गड्ढे में गिर सकता है अथवा सर्प पर पांव पड़ सकता है। परन्तु दीपक हाथ में लिया हुआ व्यक्ति सुख पूर्वक अपना मार्ग पार कर लेता है। उसी प्रकार जिसके हृदय में ज्ञान-दीपक जलता है वह अपना कर्त्तव्य करता हुआ इष्ट स्थान (मोक्ष) तक पहुंच सकता है। जिसमें ज्ञान का अभाव है वह रीता रहता है।

२१५. जिसको आत्म हित की अभिलाषा है वह प्राणी ज्ञान के द्वारा वस्तु स्वरूप का निर्णय करके मोक्ष पथ पर आरूढ हो जाता है।

२१६. जो प्राणी अपने को ज्ञानी मानता है पर उस ज्ञान से रात–दिन शरीर के पोषण हेतु संग्रह करता रहता है। लौकिक कार्यों में रत रहता है और आत्महित के लिए उद्यम नहीं करता, उसका ज्ञान ठीक उसी तरह है जैसे कोई व्यक्ति प्रकाश के लिए दीपक जलाता है और प्रमादवश उस दीपक से अपने वस्त्र जला लेता है तो उसको हानि ही होगी। इसमें दीपक का कोई दोष नहीं। उसी तरह ज्ञान से आत्महित की जगह अपना अहित करता है तो वह उसकी गलती ही है ज्ञान की नहीं।

२१७. ज्ञान प्राप्त होने पर मानव को उस कोरे ज्ञान को तपरूपी अग्नि में पकाना चाहिये। तब उस ज्ञान रूपी बर्तन में अमृत रूपी आत्म चिंतन ठहर सकता है। अन्यथा जैसे कच्चो मिट्टी के बर्तन में जल डालते ही वह नष्ट हो जाता है। अतः उससे सिद्ध है कि उस कच्चे मिट्टी के बर्तन को अग्नि में पकाया जावे तो वह पात्रता धारण कर सकता है।

२१८. संसार में मोह के उदय होने से राग-द्वेष पैदा होते हैं। इस राग द्वेष रूपी इन्धन को ज्ञानरूपी अग्नि जलाने में समर्थ है। अथवा मोह रूपी रोग के लिए ज्ञान रूपी औषधि से चिकित्सा ही कार्यकारी है।

२१९. ज्ञान मार्गियों का पथ-प्रदर्शन स्वयं भगवती सरस्वती करती है। ज्ञानाराधना में रत रहने वाले व्यक्ति तत्त्व जिज्ञासा में तल्लीन हो जाते हैं। उन्हीं को एक दिन वस्तु स्वरूप का भान होता है। अभीक्षण ज्ञानोपयोग की महिमा का वर्णन करना कठिन है।

२२०. काच और चित्तामणि श्रम के दो पुरस्कार हैं तो ऐसा कौन विवेकहीन होगा जो काच लेना चाहे ? उसी प्रकार मानव भव को प्राप्त करके यदि विषयादि काच खंडों को संग्रहीत करते रहे तथा आत्मचित्तामणि की प्राप्ति हेतु श्रम नहीं किया तो जन्म व्यर्थ ही खो दिया जानो।

२२१. जो पदार्थ या प्रयोजन हमारे चर्म चक्षुओं से प्रतीत नहीं होते वे ज्ञान रूपी चक्षु से सहज ही देखे जा सकते हैं।

२२२. जिस प्रकार अंधा व्यक्ति सामने रखी हुई शुभ अशुभ वस्तुओं को नही देख सकता है उसी प्रकार आत्म ज्ञान से हीन मानव धर्म अधर्म को नहीं जान पाता है।

२२३. संसार में धर्म विहीन मानव को छोड़कर दूसरा कोई मूर्ख अथवा पशु नहीं है। क्योंकि जैसे पशु घास आदि खाकर मल-मूत्रादि का क्षेपण करते हैं और धर्म-अधर्म कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को नहीं जानते हैं, उसी प्रकार धर्म रहित मानव भी खान-पान आदि की क्रिया करके मल मूत्रादि का क्षेपण करते हैं अर्थात् धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को नहीं जानते।

२२४. जिन्हें अपने धर्म तथा संस्कृति का स्वाभिमान नहीं वे धर्म

तथा शास्त्र ज्ञान से पराङमुख होकर धर्म और अधर्म को नहीं जानते हैं अतः विद्वानों ने कहा कि वे मनुष्य होते हुए बिना सींग पूंछ के पशु हैं।

२२५. प्रत्येक व्यक्ति को आत्मबोध तथा कर्त्तव्य बोध की और श्रेय की प्राप्ति के लिए ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

२२६. मानवों को अपने घर आये हुए अतिथियों को सत्कार पूर्वक आहारादि देना चाहिये। अतः अतिथि सत्कार होने से ही गृहस्थी की शोभा है।

२२७. जो मनुष्य सदुपदेश द्वारा जीवों को कर्त्तव्य बोध कराते हैं वे निश्चय ही ज्ञान-समुद्र पारदर्शी हैं तथा वे मात्र ज्ञान-लक्ष्मी के सच्चे अधिकारी होते हैं।

२२८. अपने विचारों से प्राणी चाहे तो इस पृथ्वी को स्वर्ग धाम बना सकता है और चाहे तो नरक कुण्ड बना सकता है। जैसा प्राणी के मन में रहता है वैसा प्रायः बाह्य में प्रकट होता है। चाहे कोई अन्धेरे में छिपकर विचार करे, परन्तु वह भी प्रकट हुए बिना नहीं रहता है।

२२९. जिस तरह प्रकाश से अंधकार का नाश होता है उसी प्रकार अज्ञान का ज्ञान से नाश होता है। यदि मानव अपने गुण-दोषों को नित्यप्रति देखें और फिर प्रयत्न पूर्वक दोषों को बुरा समझते हुए छोड़े तथा गुणों की वृद्धि करता जावे तो निश्चित ही अपने अनादिकालीन अज्ञान रूपी अंधकार को ज्ञान रूपी प्रकाश से नाश कर सकते हैं।

२३०. प्राणी जब तक अज्ञान के कारण अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने में लगा रहता है तब तक सच्चे सुख से वंचित रहता है और पापों को सचित करता रहता है वास्तव में विचार किया जाये तो इन इच्छाओं की पूर्ति होना सर्वथा असंभव है।

२३१. जिन महानुभावों ने अपनी आत्मा में परमात्मा का दर्शन कर लिया है, वे प्राणी मात्र में ईश्वर का दर्शन करते हैं।

२३२. जिन पापात्माओं ने अपने को नहीं जाना उनकी दृष्टि में सभी प्राणी पापी हैं अर्थात् वे अपने अमूल्य मानव-पर्याय को दूसरों के दोष देखने में ही पूरी करते हैं।

२३३. अपने मन में उत्तम २ विचारों को स्थान दो। वे विचार ही तुम्हारे जीवन में मोक्ष मार्ग में सहायक सिद्ध होंगे। वास्तव में मन के विचारों की शक्ति का प्रभाव दूसरों पर भी पड़ता है। यदि आप अपने मन में दूसरों के प्रति वात्सल्य भाव रखोगे तो उनका असर उन पर जरूर पडेगा। अथवा बुरे भाव रखोगे तो बुरा प्रभाव पड़ेगा।

२३४. वास्तव में मोक्षरूपी महल में जाने के लिए द्वार खुला रहता है जो चाहे वह उसमें जा सकता है। परन्तु वहाँ जाने में यह एक अटल तथा अमर नियम है कि सब कर्मों का ऋण चुका दिया जावे। फिर कोई रोक टोक नहीं।

२३५. प्राणियों का जीवन एक करघा है। उस पर मनरूपी जुलाहा विचार रूपी भले बुरे कामों के सूतसे ताने बाने करके संसार रूपी वस्त्र को बनाते हैं। फिर उस वस्त्र में अपने को ऐसे

लपेट लेते हैं जैसे रेशम का कीड़ा।

२३६. जो व्यक्ति सर्वदा आत्महित की वांछा करते हैं तथा अपनी शक्ति के अनुसार उस मार्ग का अवलम्बन करते हैं, वे एक न एक दिन अवश्य अपने इष्ट स्थान को पहुंच जाते हैं।

२३७. अगर आप आत्महित चाहते हैं तो आपको अपना स्थायी उद्देश्य बनाना चाहिये फिर उसकी पूर्ति में पूरी ताकत के साथ लग जाना चाहिये। परीक्षा काल में चाहे जितनी कठिनाई या विपदाएँ क्यों न आजाएं, अपने निश्चित उद्देश्य से पीछे मत हटो। याद रखो, जिस मनुष्य का कोई निश्चित उद्देश्य नहीं होता उसे किसी काम में सफलता नहीं मिल सकती।

२३८. प्राणियों में विपत्ति थोड़े दिन के लिए आती है और चली जाती है। परन्तु जो प्राणी इन विपत्तियों को साम्यभाव से सहन करते हैं, वे धन्य हैं। वास्तव में इन विपत्तियों का निर्माता मानव स्वयं ही है और अगर चाहे तो इनका नाश भी कर सकता है।

२३९. संसार में जीवों की परिणति (प्रकृति) भिन्न २ होती है। एक का स्वभाव दूसरे से नहीं मिलता है। सभी के विचार अपने पूर्वोपार्जित कर्मों के आधीन रहते हैं।

२४० संसार में जो लोग निरन्तर धन का संचय करते हैं और उसको दान धर्मादि में खर्च नहीं करते हैं। वे मात्र उस धन के रक्षक हैं। उनके पास वह धन होना न होना बराबर है।

२४१. लक्ष्मी का संग्रह करके मरजाना लक्ष्मी का फल नहीं है अपितु धर्म एवं परोपकार के मार्ग में लगाना है।

२४२. मानव अपने ही विचारों से अपने जीवन को बनाता है और बिगाड़ता है। वास्तव में मन में जैसा विचार होगा वैसी ही बाह्य अवस्था होगी और उन शुभ-अशुभ विचारों से ही प्राणी पाप-पुण्य का अर्जन करता है।

२४३ जिन व्यक्तियों ने धर्म-मार्ग को छोड़कर अधर्म मार्ग को अपना रखा है। उन्होंने अपने अमूल्य मानव जीवन की परवाह न करके अपने को घोर अंधकारमय कूप में डाल रखा है।

२४४. जो लोग अपने मानव जीवन की सार्थकता चाहते हैं, उन्हें हर समय अपने स्वरूप का चिंतवन करना चाहिये और पाप प्रवृत्ति से बचना चाहिये।

२४५. अज्ञानी प्राणी सोचते हैं कि संसार की प्रत्येक वस्तु पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है परन्तु अपने मन और आत्मा पर अधिकार होना बड़ा कठिन है। परन्तु यह उनका भ्रम मात्र है। वास्तव में सच तो यह है कि पर पदार्थों पर अधिकार नहीं हो सकता। क्योंकि वे पर हैं। अपनी आत्मा पर अधिकार होना सरल है क्योंकि वह अपनी है। प्राणी अज्ञानवश गलत धारणाएं बनाता है।

२४६. मानव अपने समीचीन विचारों से स्वतंत्र बन सकता है और बुरे विचारों से परतंत्र। अतः प्राणियों को सदा अपने

विचार संभालकर रखने की आवश्यकता है।

२४७. मानवों को मृत्यु से कदापि नहीं डरना चाहिये। क्योंकि वह डरने से छोड़ने वाली नहीं। हाँ, अपने कुकृत्यों से जरूर डरना चाहिये। मृत्यु का तो स्वागत करना चाहिये जो चिर नूतनता प्रदान करती है।

२४८. मानव को अपने हृदय से आत्म रक्षा के लिए बुराईयों को निकालने का सतत प्रयत्न करना चाहिये। अपने आत्म स्वभाव में आने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होकर प्रयत्न करना चाहिये।

२४९. प्राणियों का कर्त्तव्य है कि अपने परिणामों को स्वच्छ और पवित्र बनायें। दूषित विचारों का हमेशा परहेज रखे।

२५०. मोक्ष मार्ग की प्राप्ति में प्रमाद् (आलस्य) बाधा पहुंचाता है क्योंकि प्रमादवश प्राणी अपने आवश्यक कामों को भी नहीं कर पाता है।

२५१. मानव को मानवता के नाते मिथ्या, निन्दात्मक और क्रूर शब्दों को नहीं बोलना चाहिये। क्योंकि उक्त गलत शब्दों के प्रयोग से प्राणियों की आत्मा में पीड़ा होती है अर्थात् पराये प्राणों में पीड़ा पहुंचाना ही हिंसा व पाप है।

२५२. कषाय और वासना के वश न होकर सावधान, दृढ़चित्त और विचारशील बनो। फिर देखो मुक्ति तुम्हारे समीप ही है।

२५३. जिन महानुभावों ने अपनी आत्म शक्ति को पहिचान लिया है, वे अपने मन में काम, क्रोध, मोह, माया, लोभ, अहंकार

रति, अरति आदि को स्थान नहीं देते हैं। समीचीन विचारों के बल से पदार्थों में इष्टनष्ट की कल्पना न करते हुए मोक्ष प्राप्ति हेतु सम्यग् चारित्र को धारण करते हैं।

२५४. प्राणियों को प्रतिदिन अपनी गलतियों को देखना चाहिये और फिर उन्हें बुरी समझकर छोड़ देना चाहिये।

२५५. जब मानव अपनी भूलों को पहिचानने लग जाता है तब उसके हृदय में गुण ग्रहण करने की पात्रता होती जाती है। ज्यों ज्यों वह अवगुणों को छोड़ता जाता है त्यों त्यों गुणों का आगमन होता रहता है।

२५६. प्राणियों को चाहिये कि वे अपने मन में पूर्ण रूप से पवित्रता रखें। मन की पवित्रता ही आत्म कल्याण में सहायक है। जब तक मानव अपने मन पर शासन नहीं कर सकता है तब तक आत्महित से वंचित ही रहता है।

२५७. मानव जीवन का सार न्याय और नीति से रहता है न कि अन्याय और अत्याचार से। जब यह बात है तो मानव को उचित है कि वह इस काम में पहिले सोचले कि मैं अन्याय मार्ग पर तो नहीं हूँ। अगर मैं अन्याय मार्ग पर हूँ तो मुझे आत्म हित मार्ग पर आरूढ होकर अन्याय मार्ग को छोड़ना चाहिये।

२५८. जल में नाव रहे तो कोई हानि नहीं, परन्तु नाव में पानी आने लग जावे तो हानि है। इसी प्रकार साधक संसार में रहे तो हानि नहीं परन्तु साधक के अन्दर संसार है तो हानि

ही हानि है क्योंकि इससे उसकी साधना में अनेक विघ्न बाधाएँ आ जायेगी।

२५९. पर द्रव्य और पर नारी की इच्छा होते ही मानव का मानवता गुण का ह्रास आरंभ हो जाता है। संसार में इनके चक्र में बड़े २ मटिया मेट हो गये। अतः मानव को इन बुरी आदतों से बचना चाहिये।

२६०. संसार में राग के समान आग नहीं। द्वेष के समान भूत पिशाच नहीं और मौत के समान दुःख नहीं तथा क्रोध के समान कोई अग्नि नहीं। ऐसा जानकर जिन महानुभावों ने इनका त्याग किया वे ही इस संसार से पार हो गये।

२६१. यह संसार अतीव विचित्र है। हे भाई तू कहाँ से आया है और तुझे कहाँ जाना है और तेरा क्या स्वरूप है? इस तत्त्व पर विचार कर।

२६२. जो प्राणी अपने अन्तःकरण में शुद्ध रहता है अर्थात् मेरू के समान अचल है वही प्राणी आत्महित में सफल है।

२६३. प्राणी अगर चाहे तो अनादिकाल के बान्धे हुए कर्मों को अल्पकाल में ही काट सकता है।

२६४. जिस प्रकार खदान से निकले हुए स्वर्ण (सोना) पाषाण में सुवर्ण और मैल का अनादिकाल से सम्बन्ध है ठीक उसी तरह आत्मा और कर्मों का सम्बन्ध भी अनादिकाल से है। जैसे सुवर्ण पाषाण को ताप आदि उपायों से तपा कर शुद्ध सुवर्ण के रूप में निकाला जाता है उसी तरह से कोई

समझदार व्यक्ति अनादिकालीन पाप कर्मों को तप रूपी अग्नि आदि से तपाकर शुद्धात्मा को निखार सकते हैं।

२६५. मानव को अपने आत्म कल्याणार्थ लक्ष्य बनाना चाहिये। उस लक्ष्य-पूर्ति के लिए अपने मन, वचन और काम से प्रयत्न करना चाहिये। तभी कार्य की सिद्धि हो सकती है।

२६६. जो व्यक्ति अपनी आत्मा की उन्नति चाहते हैं उन्हें अधर्म से हटकर धर्ममय वातावरण में आना चाहिये।

२६७. प्राणियों को तत्त्व ज्ञान भली प्रकार प्राप्त करना चाहिये जिससे यह ज्ञान हो जावे कि क्या त्याज्य है और क्या ग्राह्य ? फिर समीचीन चारित्र और ध्यान के बल पर कर्म रूपी पर्वत को चकनाचूर कर दिया जावे। यही मानव-जीवन का फल है।

२६८. प्राणियों को संसार में रुलने का कारण पर-पदार्थों में मोह है। जब तक मोह का नाश नही होता तब तक घातिया कर्म नाश नही होते हैं। मोह के नाश होते ही कर्म निस्तेज हो जाते हैं अर्थात् खत्म हो जाते हैं। जैसे राजा के मरने से उसकी सारी सेना अपने प्रभाव रहित होकर युद्ध से स्वयं भाग जाती है।

२६९. प्रत्येक आत्मा स्वभाव से तो सिद्ध भगवान् के समान है परन्तु अनादिकाल से कर्मों के संयोग से रागी द्वेषी हो रहा है और सुख-दुःख भोग रहा है। जैसे जल स्वभाव से तो शीतल, मधुर और निर्मल होता है परन्तु अग्नि आदि के

संयोग से गर्म तथा नमकादि के संयोग से क्षार हो जाता है।

२७०. वास्तव में कर्मों के संयोग से आत्मा अपने स्वभाव से विकृत होकर पर वस्तुओं में इष्टानिष्ट की कल्पना करके संसार रूपी अटवी में घूमता रहता है। जैसे स्फटिक मणि में अनेक वर्णों के संयोग होने से उस स्फटिक मणि का सफेद वर्ण भी अनेक वर्ण रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार आत्मा के कर्मों का संयोग न होने से वह अपने स्वाभाविक भावों में झलकता है।

२७१. संसार में प्राणी कर्मों के सम्बन्ध से इस भयानक चार गति रूप संसार में भ्रमण करते हुए अनेक सुख-दुःख पाये हैं अब अगर यह प्राणी सांसारिक उलझनों से निकल कर आत्महित में प्रयत्न करे तो यह चार गति रूप संसार से निकल सकता है।

२७२. मानव अगर चाहे तो शान्ति से क्रोध को मार सकता है, नम्रता से अभिमान को जीत सकता है, सरलता से माया को तथा संतोष से लोभ पर काबू पा सकता है।

२७३. संसार में जो शत्रु और मित्र में, सुख और दुःख में, स्तुति और निन्दा में, मिट्टी और सोने में तथा जीने और मरने में साम्यभाव रखते हैं वे ही महान् और उत्तम पुरुष हैं।

२७४. मानव को निर्मल ज्ञान की प्राप्ति के लिए जिनवाणी का अध्ययन करना जरूरी है तथा आत्महित चिंतवन में अपना मन लगाना चाहिये।

२७५. वास्तव में मानव वज्र के पर्वत को तोड़ सकता है, लोहे की बेड़ी को काट सकता है, परन्तु मोही प्राणी स्नेह-पाश को तोड़ने के लिए अपने को असमर्थ पाता है। जैसे भ्रमर काष्ठ को भेद कर बाहर आ सकता है परन्तु स्नेह-पाश में बंध जाने पर कोमल कमल को छेद कर बाहर नहीं निकल सकता है अर्थात् मोही प्राणियों को स्नेह का बंधन भेदना अति कठिन हो जाता है।

२७६. प्राणियों में प्राणियों के मनोबल की कमजोरी होने से विषय-वासना अपना दास बनाकर पद दलित कर देती है। जिन महापुरुषों ने इस चंचल मन को वश में कर लिया उन्हीं के सामने सब इन्द्रियों और वासनाओं ने आत्म समर्पण कर दिया। अतः मोक्षार्थी प्राणियों को उचित है कि सर्व प्रथम अपने मन पर अनुशासन करे।

२७७. जो मानव संसार की चमक-दमक मनमोहक वस्तुओं को देख-कर चलायमान हो जाते है। वे आत्मविकास के क्षेत्र में असफल हो जाते हैं। वास्तव में मनोबली व्यक्ति ही अपने आत्मबल का विकास कर सकते हैं।

२७८. इस सुन्दर मानव पर्याय को प्राप्त कर, श्रेष्ठ कुल में जन्म लेकर भी अगर आत्म-कल्याण के मार्ग को स्वीकार नहीं किया तथा विषय भोगों में रत रहकर दुष्प्राय मानव तन को नष्ट कर दिया तो पश्चाताप के अलावा और कुछ नहीं बचेगा। अतः समय रहते आत्महित का प्रयत्न करना ही

श्रेयस्कर है।

२७९. निरन्तर रागादि रहित स्वात्मा में स्थित होना ही आत्म ज्ञान का होना है और ज्ञान में स्थित होने रूप चारित्र का होना है और वही मोक्ष का कारण है। वास्तव में चारित्र विहीन ज्ञान, ज्ञान नहीं है।

२८०. कषायों की मन्दता सिर्फ निर्जरा का कारण नहीं। क्योंकि कषायों की मन्दतातो नवग्रैवेयक जाने वाले द्रव्यलिङ्गी मिथ्या दृष्टि के भी होती है। पर कषायों का स्वामी बदलते हुए जो मंदता होती है वही संसार परिभ्रमण की रक्षा का मार्ग है।

२८१. वास्तव में सम्यक्त्व की हीनता ही मिथ्यात्व का कारण है।

२८२. यह दीन प्राणी व्यामोह रूपी दल दल में फंसा हुआ बार २ निकलने का प्रयत्न करता है। यदि एक पैर निकालता है तो दूसरा पैर धंस जाता है। किसी तीव्र पुण्य से जब इसे विवेक रूपी कठिन भूमि प्राप्त होती है तब वह तुरन्त निकल जाता है।

२८३. अगर कोई कुछ गलत काम करता है तो उसे देखकर हमें व्याकुल नहीं होना चाहिये। हमारा कर्त्तव्य तो समझाने का है। समझाने पर भी यदि वह न माने तो हमें दर्शक बन जाना चाहिये। एक दिन वह कर्म अपने आप प्रकट होकर फल देगा। बीच में हम हमारे परिणामों को क्यों खराब करें ?

२८४. पराये ओगुन देखकर संक्लेशित होने वाला प्राणी सदा दुःख का भाजन ही बना रहता है । उसे देखकर अपने आपको संभालने वाला व्यक्ति ही श्रेयस्कर व सुखी है ।

२८५. आत्म ज्ञान के होते हुए भी जो श्रद्धाहीन प्राणी हैं वे ही अपनी कुत्तर्कणाओं के बल पर यद्वा तद्वा बोल सकते हैं, श्रद्धावान नहीं ।

२८६. जिन्हें आत्म स्वभाव का ज्ञान नहीं हैं, वे ज्ञानी होते हुए भी सही मार्ग पर नहीं पहुंच सकते हैं ।

२८७. जो स्वयं भेदाभेद रत्नत्रय के प्रतिपालक हैं वे ही मुक्ति मार्ग के अभिलाषी भव्य जीवों को महाव्रत प्रदान करने के अधिकारी है ।

२८८. संसार में प्राणी मात्र को अपनी जिन्दगी प्यारी है । सब ही सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं । सबको ही जीना पसन्द है । अतः प्राणी मात्र को न तो सतावो और न ही मारो ।

२८९. जिन मनुष्यों के पास न तो उत्तम विद्या है, न व्रत, न सत्कर्म में धन का सदुपयोग, न ज्ञान, न शील, न विवेक और न धर्म है । वे मनुष्य इस पृथ्वी पर भारस्वरूप होकर मनुष्य के भेष में पशुओं के समान भटकते हैं । अतः मानव को हमेशा दान, पूजा, पुण्य, व्रत सत्कर्म करते रहना चाहिये, जिससे उसका जीवन सफल हो सके ।

२९०. मनुष्यों को अपने जोश का उपयोग करना चाहिये । परन्तु होश के साथ ! यदि होश न रहा तो जोश का दुरुपयोग

ही होगा ।

२९१. एक एक बूंद से घड़ा भर जाता है। अतः एक २ अक्षर नित्य पढ़ने से अज्ञान दूर हो सकता है ।

२९२. यदि हम दूसरों के दोष निकाले, ऐब निकाले और खुद को निर्दोष बतावें तो समझलो असली दोषी हम ही हैं ।

२९३. महापुरुषों ने सिद्धान्त के लिए अपना सर्वस्व और प्राण न्यौछावर करने को कहा है ।

२९४. मानव का सुधार तभी हो सकता है जबकि साहस और दृढ़ता से समाज में प्रचलित अमानवीय कुप्रथाएँ हटादी जावें ।

२९५. अपनी जरूरत से ज्यादा संग्रह करना वास्तव में चोरी है और उस संग्रह बुद्धि से ही आत्मा का पतन होता है ।

२९६ प्राणी मात्र से प्रेम करना ही धर्म है और इस धर्म से सभी धर्म छोटे हो जाते हैं । अतः महापुरुषों ने दया को भी धर्म कहा है ।

२९७. एकाग्रचित्त होने से कठिन काम भी एक समय अवश्य ही हो जाता है । जैसे सूई में धागा पिरोने वाला एकाग्र होकर उसमें धागा पिरोता है तो धागा अवश्य छेद में चला जायेगा । अन्यथा नहीं ।

२९८. चर्म चक्षुओं के द्वारा दूसरों के दोष दिखते हैं और ज्ञान-चक्षु के द्वारा अपने दोष । चर्म चक्षु अपने आप में लगे हुए कलुष को नहीं देख सकता जबकि वह दूसरे के कलुष को बड़ी खूबी के साथ देख सकता है । ज्ञान चक्षु का लक्ष्य अपना दोष

देखना है। जो दूसरों के दोष देखने की अपेक्षा अपने दोष देखता है वह संसार-सागर को पार कर लेता है।

२९९. जो दूसरों के छोटे २ दोष देखने में भी जागरूक हैं पर अपने हाथी जैसे विशाल दोषों को देखने में आंखें बंद कर लेते हैं। वे संसार सागर में ही गोते लगाते रहते हैं।

३००. जिसने अपने मन को वश में कर लिया, उसने संसार को वश में कर लिया। किन्तु जो मन को न जीत कर स्वयं उसके अधीन हो जाते हैं समझलो वे समस्त संसार के गुलाम हो जाते हैं।

३०१. आज का युग पापियों, पतितों का है। इस युग में उस समय तक हर व्यक्ति ईमानदार है जब तक वह रंगे हाथों पकड़ा न जावे।

३०२. जो व्यक्ति पूर्ण शक्ति से अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करता है, वह आगे चल कर एक दिन अपनी शक्ति को न छिपाकर मोक्ष मार्ग की ओर प्रवृत्त हो जाता है।

३०३. ज्ञान का प्रकाश ही यथार्थ प्रकाश है। क्योंकि ज्ञान की प्रकाश व्यवधान रहित है। अतः सूर्य प्रकाश भी ज्ञान की समता नहीं कर सकता। क्योंकि सूर्य प्रकाश से तो थोड़ा स्थान ही प्रकाशित होता है जबकि ज्ञान-प्रकाश से सम्पूर्ण चराचर पदार्थ का प्रत्यक्ष भान होता है।

३०४. संसार में जो बदले की बात सोचता है वह अपने ही घाव को हरा करता है, जो अभी तक कभी का अच्छा हो गया होता।

३०५. अहिंसा तत्त्व को यदि किसी ने अधिकाधिक विकसित किया तो वे भगवान् महावीर स्वामी थे ।

३०६. जिस व्यक्ति में संकल्प की दृढ़ता है। उसके पास भाग्य मित्र बनकर हमेशा साथ रहता है ।

३०७. सद्गुणी महात्माओं की मुक्त कंठ मे प्रशंसा करना मानव का परम कर्त्तव्य है ।

३०८. मनुष्य यदि कुछ सीखना चाहे तो भूलों से सीखें । क्योंकि उसकी हो भूल उसे कुछ न कुछ शिक्षा अवश्य ही देती है ।

३०९. सभी ऊँचे २ विचार बेकार हैं । यदि वे व्यवहार में नहीं आते तथा मानव के कार्यों में प्रकट नहीं होते और उसके जीवन का विकास नहीं कर सकते ।

३१०. संसार में सम्मान के साथ रहने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि हम जैसा अपने आपको दिखाना चाहते हैं, वास्तव में वैसा ही बनें ।

३११. संसार में वे ही मनुष्य आदरणीय हैं; जो निर्धनों से स्नेह करते हैं, विपत्ति में अविचल धैर्य रखते हैं और दूसरों के दुःखों से द्रवित होते हैं ।

३१२. यदि किसी गरीब के पास एक रोटी है तो वह आधी खुद खाएगा और आधी किसी भूखे गरीब को दे देगा । परन्तु यदि एक बादशाह के पास एक मुल्क है तो वह एक और चाहेगा । देखो कैसी विडम्बना है ?

३१३. जो मनुष्य अपने मन का गुलाम बना रहता है, वह आत्म

उन्नति नहीं कर सकता है। वह कभी भी प्रभावशाली पुरुष नहीं हो सकता।

३१४. मानव धन से नहीं आचरण से महान् बनता है। किसी की आलोचना करना जितना आसान है, उससे प्रेरणा लेना उतना ही कठिन है।

३१५. नम्रता मानवता का एक महत्त्वपूर्ण मापदण्ड है। आत्म-विश्वास सफलता की कुञ्जी है।

३१६. कोई मानव अपनी संस्कृति को त्याग कर जीवित नहीं रह सकता है।

३१७. शब्दों की अपेक्षा कर्म अधिक जोर से बोलते हैं। संसार में कोई ऐसा बेवकूफ नहीं हुआ जो अपनी जबान बंद रख सका हो।

३१८. संसार में अन्याय करने वालों की अपेक्षा अन्याय सहने वाला ज्यादा पापी होता है।

३१९. शक्ति का उपयोग परोपकार में करना चाहिये। मात्र शत्रु को पीड़ित कर देना ही शक्ति का सदुपयोग नहीं।

३२०. मानवता का मूल सिद्धान्त है दूसरों को अपने प्रेम और आदर का परिचय देना तथा किसी को असुविधा या कष्ट न पहुंचाना।

३२१. मित्रता खुशी को दूना करके दुःख को बांटकर प्रसन्नता बढ़ाती है तथा मुसीबत कम करती है।

३२२. सरस्वती से बढ़कर कोई वैद्य नहीं और उसकी आराधना

से बढ़कर कोई औषध नहीं ।

३२३. जिस मनुष्य के हृदय में धर्म के प्रति अविश्वास हो उसे मृतक समझना चाहिये ।

३२४. जिस प्रकार सोने को काटकर, घिसकर और पीटकर उसकी जांच की जाती है । उसी प्रकार त्याग, शील, गुण एवं कर्म इन चारों से पुरुष की भी परीक्षा की जाती है ।

३२५. सद् चारित्र जनों के लिए धन और यश की कमी नहीं ।

३२६. प्रत्येक प्राणी अनादिकाल से सुख एवं शांति चाहता है । वास्तव में तो सुख-शांति अपनी आत्मा में ही है ।

३२७. प्रत्येक जीव अनादि-अनन्त है और प्रत्येक जीव प्रतिक्षण ज्ञान-गुण सम्पन्न है ।

३२८. आत्मा के अनादि अनन्त सत्स्वरूप पर विश्वास लाने और उसे शुद्ध ज्ञानमय जानकर उसका उसी प्रकार ध्यान करने से वह आत्मा परमात्मा हो जाता है ।

३२९. थोड़ी देर के लिए आत्मा को जो सुख का आभास होता है वह वास्तव में सुख न होकर आचार्यों ने इसे सुखाभास माना है ।

३३०. अनादिकाल से संसारी आत्मा, आत्मा से परमात्मा होते आ रहे हैं और अनन्तकाल तक होते ही रहेंगे ।

३३१. जो आत्मा से परमात्मा होते हैं उनमें स्वात्मा में रमण करने रूप पुरुषार्थ की प्रधानता होती है । वास्तव सुख एवं शांति आत्मा का स्वभाव है स्वभाव का कभी भी अभाव नहीं होता ।

३३२. क्रोधादि कषाय करना या राग-द्वेष करना आत्मा का स्वभाव नहीं है। जैसे उष्णता जल का स्वभाव नहीं है।

३३३ अपने कर्मों के अनुसार प्रत्येक जीव अनादिकाल से मोह मदिरा का पान करता आ रहा है। जिससे अपने को एवं स्वभाव को भूला हुआ है।

३३४. मोह निद्रा का विनाश करने के लिए प्रारंभ में सद् गुरुओं की शरण आवश्यक है। स्वात्मा को भूलकर पर से मोक्ष प्राप्ति की श्रद्धा रखने वाला निश्चय ही सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

३३५. हे मानव ! यदि तू वास्तव में कल्याण चाहता है तो प्रतिक्षण अपने अनादि अनन्त सत्स्वरूप की ओर प्रयत्न पूर्वक उपयोग को लगा।

३३६. जो जिस क्षण अपने सत्स्वरूप आत्मा में रमण करता है वह उसी क्षण सम्यग्दृष्टि है।

३३७. सबसे जीवित रचना तो वह है जिससे पढ़ने से प्रतीत हो कि लेखक ने सब कुछ फूल के समान अन्तर से प्रस्फुटित किया है।

३३८. आकाश से चन्द्रमा अपना प्रकाश सम्पूर्ण पृथ्वी पर समान रूप से डालता है। अपना कलंक तो अपने तक ही सीमित रखता है।

३३९. वास्तव में संसार में लोभी मानव सबसे अधम और निर्लोभी सर्वोत्तम मानव होता है।

३४०. विपत्ति के समय जो व्यक्ति दुःखी होता है, वह सज्जनों की

दृष्टि में अविश्वासी समझा जाता है।

३४१. उत्तेजित हो जाना किसी भी काम की सिद्धी में पहला विघ्न माना जाता है।

३४२. किसी ने तुम्हारे साथ बुरा किया और वह तुम्हें बुरा लगा तो आप दोनों एक ही दर्जे के बुरे रहे।

३४३. मानव जन्म से न तो माथे पर तिलक लगाकर आता है और न यज्ञोपवीत धारण कर। अतः जो सत्कर्म करता है, वह द्विज है और जो कुकर्म करता है वह नीच।

३४४. धर्म वस्तुतः एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने वाला विभिन्न मार्गों वाला है। जब हम एक ही लक्ष्य पर पहुंचना चाहते हैं तो फिर विवाद किस बात का ?

३४५. क्रोध मानवता के लिए सबसे भयानक महामारी है। यह धैर्य को मिटाकर विनाश कर देता है।

३४६. वास्तव में हृदय की विशालता ही उन्नति की नींव है। जब कि आलस्य जीवित व्यक्ति की कब्र है।

३४७. संसार में जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग अवश्य ही होगा। उसको कष्ट रूप समझकर दुखी होना योग्य नहीं।

३४८. शरीर रूपी इस घोड़े के तुम दास या सहीस मत बनो। अगर बनना चाहते हो तो इसके स्वामी या रईस बनो। अर्थात् बहिरात्मा न बनकर अन्तरात्मा बनो।

३४६. संसारी प्राणी जितना कष्ट संसारिक कार्यों के लिए सहते हैं। उससे थोड़ा भी यदि मुक्ति प्राप्ति के लिए सहलें तो

कष्ट नहीं रहता और हमेशा हमेशा के लिए वह मुक्त हो सकता है।

३५०. यह संसार काजल की कोठरी है। उसकी कालिमा से बचने का उपाय यह है कि अहिंसामय आत्म तत्त्व का दर्शन और पवित्र आचरण करो।

३५१. एक अवगुण छिपाने के लिए अनेक आडम्बरों का क्लेश करने की अपेक्षा छोटा परिश्रम तो यह है कि उस एक अवगुण को सदा के लिए मिटा दो।

३५२. वास्तव में मरने से डरना क्या है ? इस जीर्ण शरीर को छोड़कर नवीन शरीर में पहुंच गये। यहाँ से चलकर वहाँ पहुंच गये। परन्तु यहाँ भी रहोगे और वहाँ भी रहोगे।

३५३. कोई भी घटना होने पर विचार करो कि ऐसा ही होना था अनहोनी तो नहीं हुई। फिर उस सम्बन्ध में कुछ भी विकल्प करना व्यर्थ है। व्यर्थ ही नहीं आगामी दुःख के लिए नया बन्ध बांधना है। ऐसा विचारकर "गतं न शो चामि" का अनुसरण करना चाहिये।

३५४. मैं अपने स्वभाव में स्थिर रहूँ। ऐसा विचार करना ही धीरता है, वीरता है। स्वभाव से च्युत हूँ तो यही कायरता है। इस प्रकार जो विचार करता है वह अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है।

३५५. यदि किसी ने तुम्हें मूर्ख कहा और उस मूर्ख शब्द को सुनकर तुम अपने स्वभाव को छोड़कर तुम क्षोभ में आ गये तो तुम

उससे भी बड़े मूर्ख बने। अतः कोई कुछ भी कहे तुम्हें तो अपने स्वभाव में रत रहना चाहिये।

३५६. धर्म में अनुराग हुए बिना धार्मिक जनों की सेवा नहीं हो सकती। वह धर्म दृष्टि के बिना संसार से पार होने का रास्ता नहीं देख सकता।

३५७. जिसने मान का मर्दन किया हो वे ही बड़ भागी वैयावृत्ति (वैयावृत्य) कर सकते हैं।

३५८. राग की पीड़ा राग से शांत नहीं होती और न खून का दाग खून से धुलना है। वास्तव में उस पीड़ा की शांति का उपाय एक भेद ज्ञान है।

३५९. जगत में जो हो रहा है, उसे होने दो। परन्तु तुम राग करके व्याकुल मत हो वों। हाँ यदि बन सके तो उपकार करो और बाद में उस उपकार को भूल जाना ही श्रेयस्कर है।

३६०. संसार के प्राणी परिग्रह में, प्रतिष्ठा में, नामवरी में तो रात दिन एक कर रहे हैं। परन्तु मरने के बाद क्या होगा ? उसका कुछ भी ख्याल नहीं करते।

३६१. भोगासक्त मानव सप्तम नरक के नारकी से भी पतित है। क्योंकि नारकी तो सम्यक्त्व पैदा कर सकता है परन्तु भोगासक्त मानव नहीं।

३६२. जिस प्रकार चन्दन का भार गधे पर लदा है पर उसकी सुगंध गधा नहीं ले सकता बल्कि आस-पास के लोग उसकी सुगंध लेते हैं। उसी प्रकार विषय कषाय वाले मनुष्य को

ज्ञान भी हो तो वह उस ज्ञान से कोई लाभ नहीं ले सकता। हाँ, उस ज्ञान से दूसरे लोग लाभान्वित हो सकते हैं। परन्तु उसका स्वयं का कुछ भी हित नहीं होता।

३६३ भगवान् की भक्ति और स्मरण डूबते हुए प्राणी के लिए एक अनुपम जहाज है।

३६४. संसार के लोग कहते हैं कि भगवान भक्तों में बसता है। इसका अर्थ यह है कि भक्त अपने ज्ञान द्वारा अपने में भगवान् के स्वरूप को बसा लेता है।

३६५. परमात्म ध्यान में ध्यान का विषय परमात्मा है। अतः परमात्मा मोह के नाश में निमित्त कारण है।

३६६. यदि आपके चित्त में उपयोग में भगवान् है तो आपको तीर्थों में, क्षेत्रो में, मन्दिरों में सर्वत्र भगवान् दिखाई देगा। यदि आपके उपयोग में भगवान् नहीं है तो कहीं भी दिखाई नहीं देगा।

३६७. मानव जीवन को आत्म कल्याण का सहकारी समझकर जीने के लिए खाओ। न कि खाने के लिए जीवो।

३६८. जिसको ख्याति की चाह है उसे आत्म ज्ञान नहीं है। यदि आत्म ज्ञान होता तो उसकी चाह ही नहीं करता।

३६९. दूसरों की निन्दा करने या सुनने में रुचि का होना ही लघुता का लक्षण है। फिर उस उपाय से महत्त्व की आशा कैसे की जा सकती है ?

३७०. आत्म प्रशंसा सुनने में हर्ष और रुचि न करो। स्वप्रशंसा

सुनना ही मोही जीवों की बड़ी विपदा है। इसका फल नीचगोत्र में पैदा होना है।

३७१. स्वप्रशंसा में रुचि होना ही विषपान करना है और स्वयं को ज्ञान मात्र अनुभव करना ही अमृतपान करना है।

३७२. निंदा श्रवण से होने वाला क्लेश मिटना तो सरल है। परन्तु आत्म-प्रशंसा श्रवण से उत्पन्न आनन्द का मिटना कठिन है। अतः प्रशंसा जाल से बचो किसी के चक्र में मत फंसो।

३७३. यदि कोई तुम्हारी बुराई करता है तो यह सोचो कि यह दोष तुम में है या नहीं। यदि है तो बुरा मानने की बात ही क्या है ? वह तो तुम्हें शिक्षा दे रहा है, अतः मित्र है।

३७४. आत्म प्रशंसा सुनने में रुचि होना पुण्य का विनाश है और पाप को बुलाना है तथा संसार में भटकने के लिए स्वयं अमंगल करना है।

३७५. यदि यथार्थ में सबसे मैत्री भाव चाहते हो तो सबको अपने समान ही मानना चाहिये। क्योंकि समान माने बिना मैत्री भाव नहीं ठहरता। अगर मद के कारण उन्हें छोटा समझोगे तो मैत्री भाव नहीं टिक पायेगा।

३७६. जिस मिले हुए खेतों को जानने के लिए कि "यह इसका खेत है, यह उसका खेत है" एक सीमारेखा (बाड़) होती है उसी प्रकार आत्मा और अनात्मा को जानने के लिए 'समता' एक सीमा रेखा है। अर्थात् जहाँ तक समता है वहाँ तक आत्मा है और समता से आगे अनात्मा है।

३७७. जिन्हें जीने की तथा धन की आशा लगी रहती है उनके कर्म कर्म हैं। परन्तु जिनके आशा न होने की आशा है उनके कर्म क्या कर सकते हैं।

३७८. संसार में पापोदय होने में हानि नहीं है किन्तु पापात्मा हो जाने में निजगुण की हानि है। क्योंकि पापोदयी पापात्मा भी बन सकता है व पुण्यात्मा भी बन सकता है।

३७९. जैसे पुण्योदयी पुण्यात्मा हो सकता है और पापात्मा भी बन सकता है। पुण्योदय से लाभ नहीं है; किन्तु पुण्यात्मा बनने में लाभ ही लाभ है।

३८०. तुम्हारे द्वारा यदि किसी का लाभ होता हो तो उसमें उनका भविष्य और सौभाग्य अन्तरंग कारण समझो। तुम एहसान का भाव मत रखो।

३८१. पाप कर्म कभी भी मत करो। क्योंकि मानव जीवन के क्षण ही कितने हैं। आत्मा का लाभ तो सत्कार्य से है।

३८२. जब द्रव्य कर्म उदय में आता है तो उस समय भाव कर्म न होने दो। अपने स्वभाव के सन्मुख रहो, फिर कर्म आपका क्या कर सकता है ?

३८३. पाप से पुण्य तभी भला है, जब उसमें अहंकार न हो। यदि अहंकार है तो चाहे पाप हो या पुण्य दोनों हो संसार के बीज हैं।

३८४. यदि दूसरों के प्रति आपका क्षोभ परिणाम हो, तब दूसरों को बुरा न समझो। अपने क्षोभ परिणाम को बुरा समझो और

यह भावना करो कि इनका तो भला ही होवे। मेरे इस क्षोभ परिणाम का नाश हो। क्योंकि मेरे अनर्थ का कारण मेरा क्षोभ परिणाम ही है अन्य नहीं।

३८५. वास्तव में शान्ति की परीक्षा क्रोध का निमित्त मिलने पर होती है। अभीष्ट विषय साधन मिल जाने पर तो सभी शान्त बन जाते हैं।

३८६. क्रोध एक भयंकर अंधकार है जिसमें सन्मार्ग नहीं सूझता। अतः क्रोधी खुद तो मर मिटता ही है। दूसरों को भी परेशान करता है।

३८७. क्रोध एक अग्नि है जिसमें आत्मा के गुण जलने लगते हैं क्रोधी के जीवन में शांति नहीं हो सकती। अतः क्रोध को छोड़ दीजिए सुख ही सुख है।

३८८. क्रोध के समय मौन रहना या समय टालना उचित है तथा आत्म स्वभाव या जगत् के यथार्थ स्वरूप पर विचार करना श्रेयस्कर है।

३८९. अगर कोई क्रोध न छोड़ता है तो न छोड़े। पर यदि तुम उसके निमित्त क्रोधी बन बैठे तो क्रोध की ज्वाला में स्वयं ही जलोगे।

३९०. लौकिक कार्यों का हठ मान कषाय के बिना नहीं होता। इस मान कषाय के कारण ही रावण की संक्लेश में मृत्यु हुई। यदि हठ करना ही है तो आत्मतत्त्व पाने में करो। अन्य जगत् के मिथ्या कार्यों में रखा ही क्या है?

३६१. जैसे आम में रस का गुठली के साथ सम्बन्ध है, तब तक वह रस पुष्ट होता रहेगा। जब गुठली से सम्बन्ध छूट जायेगा। तब तो वह रस सड़ कर नष्ट हो जायेगा। इसी तरह जब तक रागादि भावों का आत्मा से सम्बन्ध है तब तक वह पुष्ट होता रहेगा। जब रागादि भावों से आत्मा का सम्बन्ध छूट जायेगा तब रागादि स्वयं सड कर विनष्ट हो जायेंगे।

३६२. तुम धन, वैभव और कीर्ति आदि से अपने को बड़ा मत समझो। वे तो पर वस्तु हैं। अपने को सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की स्वच्छता से या वृद्धि से बड़ा समझो।

३६३. संसार की परिणति को देखकर क्यों अफसोस करते हो और क्यों हर्ष विषाद करते हो। उनको न देखकर अपने आत्म स्वभाव को देखो और विचार करो कि मैंने अनादिकाल से परिणति को देखते हुए अपने को भूलकर भारी जन्म और मरण प्राप्त किया है।

३६४. जो पुरुष कहते हैं कि आत्मा कहाँ है? दिखाओ। उन्हें पता नहीं जो आत्मा तुम देखना चाहते हो वह तो तुम ही हो। जैसे कोई कहता है कि मेरे जीभ (जिह्वा) नहीं है तो उसकी बात मान्य नहीं हो सकती। क्योंकि जिस जिह्वा से वह बोल रहा है वही तो वह जिह्वा है।

३६५. संसार महान् गहन जाल है। इसमें से निकलने के लिए समीचीन ज्ञान भावना रूप महान् बल का प्रयोग करो। अन्यथा इस अथाह संसार से निकलना मुश्किल ही नहीं अति

दुर्लभ है।

३९६. संसार में लोग कहते हैं कि हमें अमुक पदार्थ या बन्धु जान से भी प्यारे हैं। परन्तु वे झूठ बोलते हैं। क्योंकि परीक्षण के समय वे अपनी जान की रक्षा का प्रयत्न करते दिखाई देते हैं।

३९७. संसार में दिखायी देने वाले समस्त पदार्थ ही जिसका सब कुछ है और अपनी खबर भी नहीं। जिसे अपनी खबर है उसे कोई चिन्ता नहीं।

३९८. इस संसार में राम लक्ष्मण जैसे महापुरुष नहीं रहे। वहाँ क्या तू अकेला राज्य करना चाहता है ?

३९९. न तो तुम्हारा कुछ जाता है और न कुछ आता है। पर पदार्थ किसी हालत में रहो तुम्हें तो हमेशा निःशल्य रहना चाहिये।

४००. राग के अनुकूल चीज मिल जाना भी एक विपत्ति है। क्योंकि ऐसे अवसर में व्याकुलता की जननी तृष्णा का होना आसान है। राग के अनुकूल चीज न मिलना भी एक सम्पत्ति है। क्योंकि ऐसे अवसर पर आकुलता की जननी तृष्णा के विनाश करने का सुन्दर अवसर प्राप्त हो सकता है।

४०१. ऐसी बात बोलो जिसके बोलने के बाद गुप्त बनी रहने की इच्छा न करनी पड़े।

४०२. वही बात सोचो जो आत्महित के लिए आवश्यक हो। यदि इसके विपरीत बात विचार में आये तो तुरन्त उसे भेद ज्ञान

भावना से अस्त करदो।

४०३. जैसे बाण को धनुष के प्रयोग से छोड़ दिया, फिर वह बाण वापिस नहीं आ सकता। वैसे ही जो वचन मुख से निकल गया वह वापिस नहीं आ सकता। जब तक वचन मुख से न निकला तब तक तो तुम्हारे वश में है। अतः जब बोलो तब हित, मित प्रिय वचन बोलो।

४०४. संसार से अलिप्त रहकर शुभोपयोगी रहो, अन्यथा शुभ और शुद्ध दोनों से च्युत रहोगे और इन दोनों के अभाव में नियम से तीसरा अशुभोपयोग हो जायेगा।

४०५. देव, गुरु, शास्त्र में भक्ति और करुणाभाव में सब शुभोपयोग हैं। पंचेन्द्रियों का सेवन, हिंसा, झूठ, चोरी कुशील, तृष्णा के परिणाम-ये अशुभोपयोग हैं। अशुभोपयोग दुर्गति का कारण है। उसकी निवृत्ति में शुभोपयोग आदरणीय है।

४०६. परोपकार का फल स्वोपकार है। अत. परोपकार करने वाले स्वयं का ही हित करता है।

४०७. संसार के जीव अपने अनुकूल हो जावें ऐसी धारणा करने वाला आकुलित होता है। क्योंकि किसी के प्रतिकूल होने पर चिंता व्यर्थ है। और यह पाप का बन्धमात्र है।

४०८. अपकार करने वालों ने अर्थात् बिगाड़ करने वालों से यदि बदला लेना चाहते हो तो उनका उपकार करो। इससे तुम्हारी विलक्षण विजय होगी।

४०९. जब तुम्हें कोई चिन्ता हो तब अपने ज्ञायक स्वभाव का

चिंतवन करो। जो आपका निजी धन है। इससे तत्काल आपकी चिन्ता खत्म हो जायेगी।

४१०. किसी भी परिस्थिति में आत्मा के एकाकीपन को जानकर खुश रहो। चिंता कभी मत करो। इस संसार में अकेले ही आये थे और अकेले ही जाओगे। अतः दूसरों की चिंता करना मूर्खता है, व्यर्थ है।

४११. स्वभाव के अनुभव में अंहता और ममता का विनाश होता है व शुद्धात्मा के दर्शन होते है जबकि विभाव परिणामों से अंहता और ममता बढ़ती है और संसार दीर्घ होता जाता है।

४१२. मानव की तृप्ति तो त्याग से हो सकती है और त्याग से ही मानव महा मानव बन सकता है। बिना त्याग के मानव, दानव वृत्ति अपना लेता है और सांसारिक यातनाओं को सहता है।

४१३. जो भविष्यत् पर विश्वास करके पुरुषार्थ करना छोड़ देते हैं वे संसार-सागर में गोते लगाते ही रहेंगे। क्योंकि पुरुषार्थ विहीन पुरुष समुद्र को पार नहीं कर सकता है।

४१४. सबसे श्रेष्ठ करणीय कार्य यही है कि अपने स्वभाव को पहिचान कर उसमें गति करें। पर वस्तुओं से अपने को अलग समझकर शांत रहें।

४१५. मरने से क्या डरना ? मरना तो है ही। जो शरीर क्षण भंगुर है वह निश्चय ही विनाश को प्राप्त होगा और जो मैं (आत्मा) हूँ सो कभी मरता नहीं।

४१६. यदि आपको स्वाधीनता पसन्द है तो दूसरों को कभी भी पराधीन करने की कोशिश मत करो। अन्यथा पछताओगे। क्योंकि कोई भी प्राणी इच्छा के विपरीत आचरण पसन्द नहीं करता।

४१७. जैसे जाल में फंसा पक्षी पराधीन है। इष्ट विहार नहीं कर सकता है। वैसे ही सांसारिक प्राणी कर्मों से बन्धे हैं। वे स्वाधीन सुख को प्राप्त नहीं कर सकते। यदि अपने स्वभाव को देखें तो परतंत्रता की बेड़ी काट सकते हैं।

४१८. सबसे कठिन बंधन स्नेह का है। अन्य बंधन न के बराबर हैं। पर वस्तुओं से स्नेह होना ही परतंत्रता है। अपने को स्वतंत्र, अविनाशी, अखंड जानकर बंधन से दूर रखो और प्रसन्न रहो।

४१९. धर्म आत्मा की विभूति है। किसी स्थान पर रखा हुआ नहीं है। किसी व्यक्ति विशेष के पास नहीं है। वह तो अपनी परिणति है। अतः धर्म को अपने में ही देखो और उसे प्राप्त करो। शर्त यह है कि अधर्म का परिहार हो।

४२०. धर्म का स्वरूप जाने बिना उसे ढूंढने की कोशिश करना कार्यकारी नहीं। क्योंकि धर्म तो आत्मा की निजी निधि है, बाहर में नहीं।

४२१. पर वस्तुओं का व्यामोह संसार का मूल है। सबसे पहिले इसको भेद विज्ञान से शिथिल करना मोक्ष मार्ग का पहिला कदम है।

४२२. दूसरों की आशा पर जीवन की निर्भरता मानने वाले मानव भ्रम वश अपने अस्तित्व को नहीं जानते हैं।

४२३. संसार में जो जीव कषायों में जितना परहेज करेगा वह उतना ही धीर व गंभीर होगा। निःसन्देह कषायों को दूर किये बिना धीरता व गंभीरता नहीं आ सकती।

४२४. सत्समागम व निरन्तर ज्ञानोपयोग के बिना कल्याण-पथ पर चलना अत्यन्त दुष्कर है।

४२५ आचार्यों ने ज्ञान प्राप्त करने का फल वैराग्य बतलाया है। अगर अपने को कोई ज्ञानी मानता है और वैरागी नहीं होता तो समझलो उसमें ज्ञान नहीं ज्ञानाभासमात्र है।

४२६. प्रायः सांसारिक प्राणियों का समय कल्पनाओं में व्यतीत होता है। देखो ! जब तक इस पर विजय नहीं पाओगे तब तक संसार भ्रमण नहीं मिट सकेगा।

४२७. जहाँ तक हो सके विकल्पों से दूर रहो। क्योंकि विकल्प ही दुःख है। अतः विकल्पों को अहितकारी मानकर इन से दूर रहने का यत्न करो।

४२८. जिस समय जो होना होता है वह होता रहता है। अपने आपको विकल्पों से बचाओ और निर्विकल्प उपयोग में अपने मन को लगाओ।

४२९. जब अनिष्ट वस्तुओं में हमें अरुचि होती है तो समझलो इष्ट वस्तुओं में भी रुचि है।

४३०. पर पदार्थों को पर समझकर यदि ममत्व हटा लिया जावे तो

अपना निज स्वरूप दिखाई देने लगेगा ।

४३१. आत्मोन्नति का मूल कारण श्रद्धान है । यदि श्रद्धान बन जावे तो प्राणी पतन से बचकर सच्चे मार्ग पर लग सकता है ।

४३२. मेरे में जो विभाव (कषायादि) उत्पन्न होते हैं वे मेरे ही घात के लिए होते हैं। वस्तुत: ये मेरे स्वभाव नहीं हैं। न मैं उनका स्वामी हूँ । मैं तो मात्र ज्ञाता और द्रष्टा हूँ ।

४३३. जगत् विश्वास के योग्य नहीं है। क्योंकि यहाँ स्वार्थ का ही बोल बाला है और स्वार्थ के वशीभूत होकर लोग अन्याय भी कर सकते हैं ।

४३४. नित्य प्रति अपने परिणामों को संभालते रहो और बुराइयों से बचो तथा अपने हित के लिए सोचते रहो तथा मोक्षमार्ग पर चलते रहो तो मोक्ष दूर नहीं ।

४३५. मानव जीवन का सार अथवा सच्चा धन संयम है। मोक्षार्थी प्राणी यदि संयम से च्युत होता है तो उसे बड़ा खेद होता है । इस ग्लानि से ही वह पुन: संयम पर अरूढ हो जाता है ।

४३६. विपत्ति की अवस्था में अपने आत्म स्वरूप पर दृष्टि करो ! संयम की सुरक्षा करो। विपत्ति का समय निकल जायेगा और शांति प्राप्त हो जायेगी ।

४३७. हमेशा सत्संगति करो । संसार में सज्जन वे ही हैं जो संसार शरीर और भोगों से विरक्त हैं ।

४३८. सत्संग का आदर करो । सत्समागम से पाप बुद्धि नष्ट होकर

पुण्य परिणाम बन जाते हैं। जैसे लोहा पारस पाषाण के संयोग से सुवर्ण बन जाता है।

४३९. संसार में आत्मार्थी महान् पुरुष होता है। उसके स्वप्न में भी परजीवों को सताने का भाव नहीं होता है।

४४०. पाप परिणामों को पैदा न होने देना ही मानवता है। मानवता के बिना मानव कहलाने का अधिकारी नहीं होता।

४४१. प्रवृत्ति छोड़ो। अपने पर दया करो और पाप पंकज से बचो तो एक दिन वह आयेगा कि आप स्वच्छ और निष्कलंक बन जाओगे।

४४२. शरीर की चिंता मत करो। यदि चिंता करनी ही है तो सोचो कि यह शरीर कुछ दिन बाद गल जायेगा या सड़ जायेगा और मुझे हमेशा रहना नहीं तो फिर इसके लिए क्यों चिंता करनी ?

४४३. मानलो आपने अपराधी को क्षमा नहीं किया तो किसका बिगाड़ है ? क्रोध की अग्नि से तुम ही जलोगे और अपराधी को भी कोई लाभ नहीं।

४४४. जिन प्राणियों के हृदय में क्षमाभाव है, वे अपकारी का भी बुरा नहीं चाहते हैं। यदि किसी ने अपकार किया, परन्तु अपने तत्त्व ज्ञान के कारण जो क्रोध नहीं आना वास्तव में वही क्षमा भाव है।

४४५. जिन जीवों में क्षमा गुण है। उनमें सभी गुण शोभित होते हैं। क्षमा के बिना आत्म गुणों का विकास नहीं होता है।

४४६. क्षमा तो आत्मा का निजी गुण है। उसके लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। सिर्फ क्रोध को छोड़ दो फिर तो क्षमा ही क्षमा है।

४४७. किसी से भी विरोध का भाव पैदा न होने देना ही क्षमा है, अपने स्वभाव से च्युत न होना उत्तम क्षमा है और यही सुख का कारण है।

४४८. जो दूसरों के द्वारा निंदा, बुराई सुनकर भी क्षोभ नहीं लाते, समता से सहन कर जाते हैं, वे धन्य हैं।

४४९. सज्जनों की परीक्षा विपत्ति में होती है। उस समय कसौटी पर खरा उतरना ही सज्जनता है।

४५०. जो दूसरों की शांति की परवाह न करके अपनी शांति बनाये रखना चाहते हैं, वे निर्दयी पुरुष हैं।

४५१. कई प्राणी मान कषाय के आवेश में आकर अपने स्वरूप को भूल जाते हैं और ख्याति प्रतिष्ठा के चक्कर में पड़कर अपना धर्म-ध्यान भी छोड़ देते हैं।

४५२. आत्महित, अपने अन्दर जो निर्मल भावों से हो सकता है उतना बाहरी बातों से नहीं।

४५३. वास्तव में जिनके अन्तरंग में सच्चे वैराग्यभाव की जागृति हुई है, वे किसी के साथ राग-द्वेष न करते हुए शांत परिणामों से आत्म कल्याण का काम करते हैं।

४५४. आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा है, सिर्फ ऐसा कहने से ही कुछ फर्क नहीं पड़ता। परन्तु राग-द्वेष न करके अपनी आत्म रक्षा करना

कठिन है। जैसे मिष्ठान्न पदार्थ की कथा करने से मुख मीठा नहीं होता है, तृप्ति तो खाने से ही होती है।

४५५. आज तत्त्वों की बातें करने वाले तो बहुत मिलेंगे, किन्तु स्वयं अपने गले उतारने वाले बिरले ही मिलेंगे। अर्थात् तद्रूप आचरण नहीं करते हैं अतः जीवों के अन्तरंग में श्रद्धा नहीं जमती है।

४५६. सांसारिक ख्याति, प्रतिष्ठा का लोभी प्राणी अपना कल्याण नहीं कर सकता है।

४५७. वह संतान सपूत कहलाने योग्य नहीं जो अपने कुल की मर्यादा का उल्लंघन करते हैं तथा जो अपने माता-पिता का जन्म नहीं सुधार सकते।

४५८. हमेशा सोचते रहो कि मेरे द्वारा किसी प्रकार का अन्याय व अत्याचार न हो जावे। ऐसा सोचने वाला कम से कम बड़े पापों से जरूर बच जाता है।

४५९. संसार में वही प्राणी आत्म कल्याण करने का अधिकारी है जो मन, वचन और काय से किसी का अहित न चाहता हो।

३६०. वास्तव में कल्याण की जननी पर द्रव्यों की उपासना नहीं अपितु स्व द्रव्यों की उपासना ही कल्याणकारी है।

४६१. यदि हमारा अभिप्राय निर्मल है तो बाह्य पदार्थ कल्याण में बाधक नहीं। साधक और बाधक तो अपनी ही परिणति है।

४६२. कल्याण के लिए दूसरों की प्रवृत्ति को लक्ष्य न बनाकर अपनी मलिनता को हटाने का प्रयत्न करना चाहिये।

४६३. जरा सोचो ! आत्म कल्याण का मार्ग अन्यत्र है या निज में। यदि निज में है तो फिर अनजान क्यों बन रहे हो और मृग तृष्णा में क्यों भटक रहे हो।

४६४. जब तक जीवों की परिणति विशुद्ध और सरल नहीं होती तब तक जानलो कि कल्याण का पथ अति दूर है।

४६५. संसारी प्राणी अपने आपमें जो अनन्त शक्ति है, उसको जाने बिना दर दर भटकते फिरते हैं। यदि अब भी अपना पौरुष संभाले तो अनन्त संसार के बन्धन कट सकते हैं।

४६६. आत्म शक्ति पर विश्वास करना ही मोक्षमार्ग है। जिसने विश्वास किया वह प्रशंसा का पात्र बन गया और उसने अनन्त दु:खों से छुटकारा पा लिया।

४६७. आत्म निर्मलता के अभाव में ही यह प्राणी आज तक नाना प्रकार के संकटों का पात्र बन रहा है। अतः आवश्यकता यह है कि आत्मीयभाव निर्मल बनाया जावे और उसकी बाधक कषाय प्रवृत्ति को मिटाने का प्रयास किया जावे।

४६८. कोई भी कार्य करो, वास्तविकता को देखो। केवल अधीर होने से कार्य की सिद्धि नहीं होती।

४६९. सच्चा पुरुषार्थ तो आत्महित करना है। जिन जीवों के परिणाम निर्मल रहते हैं वे नियमतः सद्गति के पात्र होते हैं।

४७०. संसार में महापुरुषों ने जन्म की महिमा गाई है। किन्तु उस महिमा का पात्र वही है जो अपनी परिणति से कलुषता को पृथक करदे।

४७१. संसार में अनेक ऐसे प्राणी हो गये जो थोड़े ही समय में अपने परिणामों को निर्मल बनाकर मोक्ष मार्गी बन गये।

४७२. गृहस्थाश्रम में अनेक उपद्रवों के रहते हुए भी निर्मल भावों का लाभ असंभव नहीं है।

४७३. जब तक प्राणियों की कलुषता नहीं जाती है, तब तक शांति का अंश मात्र भी लाभ नहीं होगा। क्योंकि शांति को बाधक परिणामों की कलुषता तो भीतर बैठी हुई है।

४७४. आजकल प्रायः निर्मलता का अभाव हो गया है। अतःएव आजकल मोक्ष का भी अभाव ही है।

४७५. धैर्य से काम लीजिए और परिणामों को निर्मल बनाने का यत्न कीजिए। आपके सभी कार्य अनायास ही सिद्ध हो जायेंगे।

४७६. संसार परिभ्रमण रूप दुःख परम्परा को देखकर अज्ञानी मानवों का उत्साह भङ्ग हो जाता है। किसी कार्य में उनका साहस नहीं होता। निरन्तर रौद्रध्यान तथा आर्त्तध्यान में समय व्यतीत करके दुर्गति के पात्र बन जाते हैं।

४७७. वास्तव में आत्मा में अनन्तशक्ति विद्यमान है। अतः प्राणियों को चाहिये कि वे अनेक प्रकार की विपत्तियों के समागम पर भी आत्म विश्वास को न छोड़े।

४७८. जिनको आत्म बल पर विश्वास नहीं, वे संसार रूपी सागर से पार नहीं हो सकते हैं।

४७९. आत्म विश्वास के बिना कोई भी महत्त्वपूर्ण काम नहीं हो

सकता। आज तक जितने भी महापुरुष हुए हैं उन सबमें आत्मविश्वास ही एक ऐसा प्रभावशाली गुण था जिसके बल पर उन्होंने मुक्ति तक प्राप्त की।

४८०. संसारी प्राणी अनादिकाल से अपनी भूल के कारण संसारी बन रहे हैं और भटक रहे हैं। भूल मिटते ही मोक्ष का पात्र बनते देर नहीं।

४८१. जिन जीवों ने अपनी बढ़ती हुई आशाओं का अन्त कर दिया वे ही मोक्ष मार्ग के अधिकारी हो गये।

४८२. जिन महापुरुषों ने राग द्वेष की सांकल तोड़कर अपने स्वरूप का अवलोकन कर लिया उन्होंने अपना हित साध लिया।

४८३. जो प्राणी निष्कपट भाव से काम करता है उसका काम सदा सफल होता है।

४८४. अपने मन को स्थिर करके तत्त्वों में श्रद्धान करना मोक्ष प्राप्ति का प्रथम उपाय है। आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम ही मोक्ष है।

४८५. मोक्ष मार्ग में वही पुरुष गमन कर सकता है जो अपने आचरणों को संभाल कर चलता है तथा स्वहित की कामना करता रहता है।

४८६. वे ही प्राणी संसार से मुक्ति पावेंगे जो अपने गुण-दोषों का ध्यान रखते हुए गुणों में वृद्धि और दोषों में कमी करने की चेष्टा करते रहेंगे।

४८७. पूर्व पुण्य के उदय में जिसने सम्पत्ति पाकर भी सदुपयोग में

नहीं लगाई तो वह अज्ञानी उस सम्पत्ति का मात्र रक्षक यानी चौकीदार ही है।

४८८. जिनका आचरण आगम विरुद्ध है वे चाहे जितना कठिन तप ही क्यों न करें परन्तु मोक्ष के पथिक नहीं बन सकते हैं।

४८९. संसार में प्राणियों के नाना प्रकार के इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग होते हैं और भोगने भी पड़ते हैं; किन्तु जो ज्ञानी जीव हैं, वे उन्हें जानते हैं; परन्तु भोगते नहीं है।

४९०. पर पदार्थों का ज्ञाता द्रष्टा रहना ही तो आत्मस्वभाव है। उसकी अभिव्यक्ति मोह के अभाव में होती है। अतः मोह को पराजित करने की आवश्यकता है।

४९१. मानव देह पाकर उदर पूर्ति के लिए ज्ञानार्जन करना कोई महत्त्व की बात नहीं है। महत्त्व तो तब है जब आत्महित में प्रयत्नशील बन जाये।

४९२. धर्म की अवहेलना करने से ही आज का मानव दैत्यवृत्ति को अपना रहा है और दिनोदिन तिरस्कार का पात्र बनता जा रहा है।

४९३. अनादिकालीन जन्म मरण रूपी रोग का इलाज केवल श्री वीतराग भगवान् की वाणी ही कर सकती है। शारीरिक व्याधियों का इलाज तो वैद्य, डॉक्टर भी कर सकते हैं।

४९४. धर्म का मर्म जानने से आकुलता नहीं रहती है। आकुलता मोक्ष मार्ग में बाधक है जबकि निराकुलता साधक है।

४९५. संसार में वे ही सच्चे वीर और आत्म सेवी है, जिन्हें स्वपर

का ज्ञान है और वे ही मोक्ष मार्ग पर आरूढ हो सकते हैं।

४९६. उपयोग की स्थिरता में स्वाध्याय मुख्य हेतु है। अतः आचार्यों ने स्वाध्याय को अन्तरंग तप में सम्मिलित किया है। तभी तो यह संवर और निर्जरा का भी कारण है। यथार्थ पदार्थ का ज्ञान भी इसके बल से होता है। यही मोक्ष मार्ग का प्रथम सोपान है।

४९७. मानव जीवन में सदाचार एक सुन्दर कल्पतरु है। जिसमें श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की तीन शाखाएँ हैं। उन शाखाओं से दया, नम्रता, शुभाकांक्षा, कर्त्तव्य परायणता, इन्द्रिविजय, दृढ़ प्रतिज्ञा परोपकार भावना, अध्यवसाय, उदारता, सुस्वभाव और प्रामाणिकतादि रंग विरंगी उपशाखाएँ निकलती हैं, जिनमें विवेक के पल्लव और सद्भावना के सुमन तथा स्वपर कल्याण के फल लगते हैं।

३९८. यदि मनुष्य अपने कर्त्तव्य को समझकर सन्मार्ग पर आजाए तो समझो संसार का किनारा आ गया।

४९९. पुरुषार्थ के द्वारा मानव चाहे तो आत्म कल्याण कर सकता है। परन्तु उसके कारणों को जोड़ने में रात दिन एक करना होगा।

५००. प्रत्येक सत्कार्य के लिए प्रयास करना तब तक मत छोड़ो जब तक कार्य की सिद्धि न हो जाए। कार्य की सिद्धि के लिए मन, वचन और काय से प्रयत्नशील होना आवश्यक है।

५०१. यदि आप पुरुषार्थ करते रहोगे तो आपके जीवन में एक न

एक दिन नवमंगल प्रभात अवश्य ही होगा। केवल मनोरथ करना तो कायरों का कर्म है। प्रयत्न बिना तो मानव परोसा हुआ भोजन भी नहीं कर सकता है।

५०२. अशुभ कर्म के उदय में धीरता ही उपयोगी है। यद्यपि उस समय धैर्य धारण करने में आपको कठिनाई महसूस होगी परन्तु यदि आप साहस से काम लेंगे तो सफलता आपके चरण चूमेंगी।

५०३. सज्जन हमेशा अपने दोष देखते हैं जबकि दुर्जन दूसरों की आलोचना करते रहते हैं।

५०४. दुर्जनों द्वारा की गई आलोचना को धैर्य से सुनने की आदत डालो और उससे लाभ उठावो।

५०५. संसार बंधन से छूटने के लिए अपने दोषों पर दृष्टिपात करो।

५०६. परमतत्त्व जानने में चित्त की स्थिरता मुख्य कारण है। वास्तव में चित्त की चंचलता तो मोक्ष में बाधक है और स्थिरता साधक है।

५०७. यदि आप चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो पर-पदार्थों से ज्यादा सम्पर्क मत करो। एकान्त में बैठकर स्व हिताहित पर चिंतन करो और स्वहित में लग जावो।

५०८. संसार में वह मानव, मानव नहीं जो सर्व साधन सम्पन्न और निरोग होते हुए भी आत्मकल्याण से विमुख रहता है।

५०९. जो अपनी प्रवृत्ति को निर्मल करता है और मानव-जीवन का मूल्यांकन करता है, विषयों की तृष्णा से अपने को बचाता

है, वही मानवता के नाते मानव है।

५१०. जो अपने आत्मगौरव को पहिचानता है वही सच्चा मानव है।

५११. मानव जन्म की सार्थकता इसी बात में है कि निष्कपट व्यवहार किया जावे और स्वपर शांति का लाभ लिया जावे।

५१२. संसार दुःखमय है। इस दुःख को मिटाने के लिए कोशिश करना समझदारी है। पर पदार्थों का ममत्व त्यागकर अपने भविष्य को निर्मल करना ही गौरव की बात है।

५१३. मानव पर्याय का पाना अति दुर्लभ है। अतः इसका दुरुपयोग करके संसार को कंटक मत बनाओ। अन्य प्राणियों को सताकर मानव से दानव मत बनो।

५१४. मानव वही है जो अपने को पापों से सुरक्षित रखे।

५१५. मानव वही है जिसमें मानवता का व्यवहार हो। मानवता वही है जिसके होने पर स्व पर भेद विज्ञान हो जावे। भेद-विज्ञान वही है जिससे आत्मा परमात्मा बन जावे।

५१६. मानव पर्याय से ही मुक्ति लाभ हो सकता है, क्योंकि संयम का अधिकारी मानव ही है।

५१७. धर्म वही है जहाँ पर मोह और क्षोभ का अभाव है। वास्तव में धर्म की उत्पत्ति कषाय रहित भावों में ही है।

५१८. आत्मा की समीचीन परिणति का नाम धर्म है। जिनको धर्म पर श्रद्धा है उनके सभी उपसर्ग दूर हो जाते हैं।

५१९. वास्तव में धर्मात्मा वही है जो विपदावस्था में भी धर्म से

विमुख न होवे। जितना आत्मपरिणामों को निर्मल रखा जावेगा उतना ही धर्म का लाभ होगा।

५२०. धर्म वह वस्तु है जिसके द्वारा प्राणी संसार के बंधन से मुक्त हो जावे। जहाँ दया का अभाव है वहाँ धर्म का अंश भी नहीं और जहाँ धर्म नहीं वहाँ मुक्ति का अभाव है।

५२१. थोड़ा अनुभव से देखो यदि आपके शरीर में सुई चुभ जावे तो आपको कितनी वेदना होगी ? तो भला जो जीव-वध में धर्म मानते हैं वे अपना अहित ही करते हैं।

५२२. धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है। जहाँ आत्मा की परिणति मोहादि पापों से मुक्त हो जाती है वहीं धर्म का उदय है।

५२३. धर्म पर यथार्थ श्रद्धा न हुए बिना धर्मात्मा नहीं हो सकता। वास्तव में धर्म रत्नत्रयरूप है उसमें वञ्चना के लिए स्थान नहीं।

५२४. उत्साहपूर्वक मोक्षमार्ग में लग जाना और संलग्नता पूर्वक यत्न करना, अपनी इच्छाओं को रोकना ही शांति प्राप्त करने के लिए रामबाण औषधि है।

५२५. वास्तव में जो इच्छाओं को हटा देगा वही शांति प्राप्त करने का अधिकारी होगा। शुभाशुभ उदय में साम्यभाव रखना ही शांति का साधन है।

५२६. सांसारिक कामों में प्राय: कषाय भाव रहते हैं। इन कषाय भावों का अभाव होने से ही आत्मस्वभाव जाग्रत होता है।

५२७. नित्यप्रति प्रात: उठकर भगवान् की पूजा करने से चित्त में

शांति आना ही भगवद् भक्ति का फल है।

५२८. पारस पत्थर के स्पर्श से लोहा सुवर्ण बन जाता है। इसी तरह जो लोग पार्श्वप्रभु के चरणस्पर्श से केवल सुवर्ण होना चाहते हैं वे सन्मार्ग से दूर हैं। जबकि पार्श्वप्रभु की भक्ति में वह शक्ति है कि उनके चरणों के स्पर्श से प्राणी स्वयं पारस बन जाते हैं।

५२९. अपनी स्वतंत्र कुटिया से पराधीनता का महल भी अच्छा नहीं। अतः पराधीनता को पृथक् करके स्वाधीन बनो। क्योंकि पराधीनता मोक्ष में बाधक है।

५३०. राग-द्वेष को बुद्धि पूर्वक जीतने का प्रयत्न करो तथा पुरुषार्थ के द्वारा कर्म अटवी को दग्ध करने में उपयोग लगाओ। आवश्यकता इस बात की है कि पर वस्तुओं में इष्टानिष्ट कल्पना न होने दो। यही राग-द्वेष को जीतने का सच्चा पुरुषार्थ है।

५३१. कर्मों के उदय में प्राणी बड़ा से बड़ा अनर्थ कर लेता है। परन्तु समीचीन पुरुषार्थ एक ऐसी खड्गधार है जो उदयजन्य रागादिकों की परिपाटी को ही निर्मूल कर देती है।

५३२. अपने अर्जित कर्मों के उदय को तो हम नहीं रोक सकते हैं। परन्तु उस समय वस्तुस्वरूप को समझकर यदि हम राग-द्वेष को छोड़कर हर्ष विषाद न करें तो हमारे अधीन की बात है।

५३३. अपने अर्जित धन का सदुपयोग करो। जिससे भविष्य में सद्गति प्राप्त हो और धर्म की भी प्रभावना होवे। अन्यथा

यह धन तो हमेशा रहने वाला है नहीं। पुण्य अस्त होते ही नाश हो जायेगा।

५३४. यह जगत् अज्ञानरूपी अंधकार से आच्छन्न है। उसे यथा-शक्ति दूर करने का यत्न करो।

५३५. जहाँ सम्यग्दर्शन का उदय है वहाँ अनन्त संसार का अन्त ही समझो। कर्मजनित उदय-काल में सम्यग्-दृष्टि प्राणी घबराते नहीं। क्योंकि वे भली प्रकार जानते हैं कि यह मेरे से भिन्न है और मेरी आत्मा भिन्न है। मैं तो मात्र ज्ञाता दृष्टा हूँ।

५३६. विषय कषायों से अथवा संसारिक प्रपञ्चों से मुख मोड़ना ही उदासीनता है वास्तव में उदासीनता पूर्वक अपना जीवन बिताना मानव पर्याय की सार्थकता है।

५३७. घर और परिवार में रहते हुए भी अपने आत्मस्वरूप को समझकर अनात्मीय भावों से अपने को जुदा अनुभव करना ही उदासीनता है। जैसे कमल जल में रहता हुआ भी उससे जुदा है।

५३८. अधिक संग्रह करना संसार का ही कारण है। क्योंकि इस संग्रह वृत्ति से ही प्राणी लोभ के वश होकर अपना पतन करता है।

५३९. संसार में क्षमा सबसे उत्तम धर्म । जिसके हृदय में क्षमा है उसमें सभी धर्म है। क्षमा आत्मा का स्वभाव है। अतः क्षमा के लिए ज्यादा परेशान होने की जरूरत नहीं। केवल शर्त

यह है कि आप क्रोध को छोड़ दीजिए क्षमा तो स्वतः ही आजायेगी।

५४०. मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि दुराचार से पतित मनुष्यों का हित, मित प्रिय वचनों के द्वारा सांत्वना देकर सन्मार्ग पर लावें।

५४१. अज्ञानी जीवों को उनके अज्ञान दोष मानकर उन्हें क्षमा करना तथा उन्हें उपदेश देकर सुमार्ग पर लगाना बड़े पुरुषों का काम है।

५४२. किसी पर मिथ्या कंलक का आरोप लगाकर अपना ही अहित करना है।

५४३. यदि मानव ने पापोदय में अपने को नहीं पहिचाना तो भला पुण्योदय में क्या पहिचानेगा ?

५४४. क्रोध पर विजय होने से क्षमा गुण सहज में निखर जाता है क्योंकि वह निजी सम्पत्ति है।

५४५. अगर आपको सद्गति और शाश्वत सुख की अभिलाषा है तो आप शरीर, धन, धान्यादि, परपदार्थों से मोह एवं आत्मीयता को छोड़कर अपनी अनन्तशक्ति पर विश्वास करो।

५४६. प्राणी निर्द्वन्द्व रूप से जन्म लेता है। गुण-दोषों का ग्रहण तो वह अपने चारों ओर के वातावरण से करता है।

५४७. आज लोग राम-राज्य की स्थापना करना चाहते हैं। परन्तु याद रखो राम-राज्य की स्थापना राम बनकर ही की जा सकती है, रावण बनकर नहीं।

५४८. संसार की जननी अहंकार बुद्धि है। अतः जब तक हम अहं-

कार और ममत्व को नहीं छोड़ते तब तक हम संसार से विरक्त नहीं हो सकते।

५४९. संसार से मुक्त होने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि पर-पदार्थों से आत्मीयता का भाव हमेशा के लिए छोड़ दो।

५५०. संसार से छूटने का सरल मार्ग यही है कि पर-पदार्थों तथा कषायों से निवृत्ति ले लो। क्योंकि यही संसार के जनक हैं।

५५१. विभावशक्ति रूपी मशीन के द्वारा आत्मा में अनेक प्रकार के रागादि विभाव भाव बनते रहते हैं। वास्तव में ये ही संसार के मूल कारण हैं।

५५२ हम अपनी ही अज्ञानता से संसार की यातनाओं को सहन करते हैं। उसका मूल कारण हम ही हैं।

५५३. अनात्मीय पदार्थों में आत्मीयता के भाव होने से प्राणी चारों गतियों में आजतक भटकता ही रहा। यदि इस गलत परिणति को सुधारने का प्रयास नहीं किया गया तो अनन्त-काल तक भटकना ही पड़ेगा।

५५४. वस्तु स्वरूप को जाने बिना चाहे जितना प्रयत्न करो, मन की चंचलता का रुकना कठिन है।

५५५. अपनी ख्याति प्रतिष्ठा की इच्छा करना मानो दुर्गति को बुलावा देना है।

५५६. ख्याति प्रतिष्ठा के लिप्सु न होकर उत्तमोत्तम कार्य करते जाओ। ख्याति प्रतिष्ठा स्वयं आकर आपको खोज लेगी।

५५७. संसार में प्रतिष्ठा उसी की होती है जिसने अपनत्व को भुला

दिया हो। केवल लोक प्रतिष्ठा के लिए जो कार्य किया जाता है वह अपयश का कारण और परिणाम में भयंकर होता है।

५५८. जबतक आपको अपनी प्रशंसा सुहाती है तबतक समझलो कि आपसे कल्याण-पथ दूर है।

५५९. जो दूसरों की निंदा और अपनी प्रशंसा सुनकर खुश होता है तो समझलो वह अपने मोक्षमार्ग में स्वयं ही कंटक बिछाता है।

५६०. पदार्थों में जो ममत्त्व बुद्धि है वह छूटते ही मानव स्वयमेव दुःखों से छूट जाता है अर्थात् लोभ कषाय के अभाव में मानव अपने स्वरूप को पहिचानने लगता है।

५६१. वे महानुभाव धन्य हैं जिन्होंने परिग्रहजाल को तोड़कर स्वतंत्रता प्राप्त करली। यह शाश्वत नियम है कि जो इस जाल को तोड़कर निकल जाता है वह फिर इसके बंधन में नहीं आता है।

५६२. पर वस्तुओं की चिंता ही मोक्षमार्ग में रोड़ा है। यदि चिन्ता ही करनी है तो आत्मतत्त्व की करो।

५६३. जिसके मन में सांसारिक चिंता रहती है अर्थात् चित्त चिंता से मलिन रहता है। उसके मन में आत्मभावना के विशुद्ध अंकुर कहाँ पैदा होंगे ?

५६४. पर वस्तुओं का संसर्ग अनर्थों की जड़, विपत्तियों की लता, आपत्तियों का बीज तथा मोह का फल है।

५६५. भगवत् वाणी में शंका करना आत्मघात का साधक है। यदि आपको संकोच करना है तो विषय-कषाय के सेवन से करो। धर्म–पालन में संकोच करने से क्या लाभ ?

५६६. धर्म में कायरता के लिए कोई स्थान नहीं। अनादिकालीन कर्मों पर विजय तो शूरवीर ही पा सकते हैं कायर नहीं। अतः जहाँ तक हो सके निशक होकर कायरता को पास मत आने दो।

५६७. उसी का संसार दीर्घ है जो अपनी आत्मा को हीन और कायर समझता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम संसार बढ़ाने वाली इस कायरता को दूर करें।

५६८. ऐसा समझना कि हम क्या कर सकते हैं ? हमारे पास क्या है ? हम तो गरीब हैं, शक्ति हीन हैं, तो समझलो उन्होंने निज आत्मतत्त्व को पहिचाना ही नहीं। अतः अब इन झूठे विकल्पों को त्यागो और आत्म पुरुषार्थ को जागृत करो फिर देखो आपमें कितनी सामर्थ्य है ?

५६९. जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य के लिए निरन्तर व्यायाम एवं सन्तुलित भोजन करना हितकर है उसी प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिए शास्त्र स्वाध्याय और आत्मीय गुणों में अनुरक्त रहना हितकर है।

५७०. जैसे दीपक से दीपक प्रकाशित होता है वैसे ही परमात्मा के स्मरण से आत्मा परमात्मा बन जाता है। बन में बांसों की रगड़ से अग्नि उत्पन्न होती है वैसे ही अपनी उपासना से

आत्मा परमात्मा बन जाता है।

५७१. जैसे संसार को पैदा करने में हम ही समर्थ है वैसे ही मोक्ष को प्राप्त करने में भी हम समर्थ है या यों समझो कि आत्मा ही आत्मा को संसार या मोक्ष में ले जाता है। अतः विकट संसार मे छूटकर मोक्ष प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।

५७२. कर्मोदय काल में तभी तक सुख दु:ख देने की ताकत है जब तक आत्मा अपने स्वरूप को न जान ले। जिन्होंने आत्म स्वरूप का सहारा लिया उनके कर्मोदय भविष्य में आत्मा पर वार करने में असमर्थ होते हैं। यथा सूर्योदय होने पर उल्लू का अन्धा होना।

५७३. इधर उधर भटकने से क्या लाभ ? जबकि आपकी आत्मा से ही आपका भला होने वाला है। वास्तव में अनात्मीय भावों को पोषण करना ही विषपान करना है।

५७४. जीवन भर ज्ञान के गुण को गाथा गाते रहो, परन्तु यदि उस ज्ञान से मोह का उपशम नहीं हुआ तो उस ज्ञान से क्या लाभ ?

५७५. जिन सज्जनों ने अति दुर्लभ मानव पर्याय को पाकर रागादि शत्रु सेना का संहार कर दिया वास्तव में वे ही महाभाग शूरवीर कहलाने के पात्र हैं।

५७६. वैराग्य तथा आत्मज्ञान के बिना उपरी ज्ञान उसी तरह निष्फल है जैसे नेत्र हीन सुन्दर मुख।

५७७. यदि अहंकार और ममकार का सद्भाव है तो फिर सम्यग्-ज्ञानी और मिथ्या-ज्ञानी में कोई अन्तर नहीं।

५७८. शारीरिक व्याधि का सम्बन्ध शरीर से है। जो शरीर को अपना मानता है उसके ही व्याधि है। भेद-ज्ञानी के व्याधि कैसे हो सकती है? क्योंकि वह शरीर को अपना मानता ही नहीं।

५७९. वास्तव में आत्मीय गुणों का विकास उसी आत्मा के होगा जिसने, पर पदार्थों से ममत्त्व छोड़ दिया हो।

५८०. जिन कर्मों को स्वयं हमने ही बांधे हैं। यदि हम चाहें तो क्या उन कर्मों को ध्वंस नहीं कर सकते? अवश्य ही कर सकते हैं। वास्तव में संचय करने की अपेक्षा ध्वस करना बहुत सरल है। जैसे मकान वनाने में बहुत परिश्रम करना पड़ता है परन्तु विनाश में ज्यादा समय नहीं लगता है।

५८१. आत्मा का सबसे बड़ा शत्रु क्रोध है। वही धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का शत्रु है। अतः क्रोध करना ही है तो अपने क्रोध पर ही करो।

५८२. स्वात्मोन्नति के लिए जहाँ तक बने दृढ़ अध्यवसाय की आवश्यकता है।

५८३. पर को जानने और देखने की इच्छा को छोड़कर स्व को जानने और देखने की आदत डालो।

५८४. अपनी आत्मगत जो दोष हैं उन्हें दूर करने की कोशिश करो। मोह के उदय में बड़ी २ भूलें होती हैं। अतः जहाँ तक हो

अपनी भूलें देखो और परायी भूल देखने की आदत छोड़ो।

५८५. जिन आचरणों से आत्मा के गुणों का विकास होता है वास्तव में वे ही सद्गुण हैं और जिन कामों से आत्मा के गुणों का नाश होता है वे ही दुर्गुण हैं।

५८६. स्वात्मतत्त्व की प्राप्ति में साधक बनो। परतत्त्व में ज्यादा योग देने से आत्मतत्त्व की हानि होती है।

५८७. जिनको क्षमा का स्वाद आ गया वे क्रोधाग्नि में कैसे जल सकते हैं ? अर्थात् वे तो शांति का अनुभव ही करते रहते हैं।

५८८. संसार में सभी आत्माएँ समान हैं, केवल पर्याय दृष्टि से ही भेद है।

५८९. जो प्राणी मनोनिग्रह करने में समर्थ है वह वास्तव में मोक्ष महल के समीप है। परन्तु जो मन के वश में है या दास है, वह संसार-सागर के मध्य ही खड़ा है।

५९०. वास्तव में अभिलाषा अनात्मीय वस्तु है। इसका त्यागी ही आत्मस्वरूप का शोधक है।

५९१. संसार में मार्ग दर्शक वही हो सकता है जो सरल और निष्प्रिय हो।

५९२. जो मधुर वाणी से अपना दुर्व्यवहार छोड़दें तो उनके प्रति कटु वचनों का प्रयोग मत करो। जैसे यदि कोई गुड़ देने से मर जाये तो उसे विष मत देवो।

५९३. प्रत्येक मनुष्य से भूल होती है। परन्तु जो प्राणी अपनी भूल को भूल जानकर छोड़ देता है वास्तव में उसकी गणना

मनुष्यों में है।

५९४. मानव अगर चाहे तो अपनी भूल से शिक्षा ले सकता है और महान् बन सकता है।

५९५. मात्र वचन की चतुरता से अन्तरंग की वृत्ति भी सुन्दर बन जाए ऐसा नियम नहीं है। अन्तरंग की वृत्ति तो सुन्दर मौन रहने से ही हो सकती है।

५९६. जिस कार्य को करने से आपकी स्वयं की आत्मा दुःखी हो तो उसे दूसरों के प्रति करना उचित नहीं।

५९७. हमारा कर्त्तव्य है कि कषाय पूर्वक मन, वचन और काय के व्यापार को रोके और उज्ज्वल भविष्य के निर्माण के लिए स्व पर हित में प्रवृत्त होकर आदर्श को अपनायें।

५९८. दुःख का मूल कारण इच्छा है। इच्छा का मूल कारण वासना है। वासना का मूल कारण विपरीत आशय है। विपरीत आशय का मूल कारण पर पदार्थों में स्वात्म बुद्धि है।

५९९. वास्तव में आत्महित चाहते हो तो अपने मन, वचन और काय के व्यापार को कषाय से मिश्रित मत करो।

६००. धार्मिक क्रिया मात्र पर को दिखाने के लिए नहीं की जाती। धार्मिक क्रियाओं को करने में तो आत्महित हेतु सुन्दर भाव होने की अत्यन्त आवश्यकता है।

६०१. दूसरों का उत्कर्ष देखकर ईर्ष्या भाव होना तथा अपना उत्कर्ष देखकर गर्व करना ही मानो समुद्र में तैरती हुई अपनी नाव को आग लगाकर डुबोना है।

६०२. ज्यादा संकल्पों की अपेक्षा कम कार्य भी करना श्रेयस्कर है।

६०३. संसार में वे ही भाव आदरणीय हैं जो अन्त में सुखद हों अथवा उन भावों को समूल नष्ट करो जो आदि से अन्त तक कष्ट-प्रद हैं।

६०४. जिन जीवों के पास साधन नहीं हैं उन पर दया भाव करना उत्तम है। उन्हें सन्मार्ग पर लाना और भी अति उत्तम है।

६०५. पराये दोषों को देखना अपने गुणों का नाश करना है। यदि आपको दोष ही देखने हैं तो अपने देखो और गुण देखने हैं तो पराये देखो।

६०६. अपने विचारों को पवित्र बनाने के लिए अच्छे संस्कारों की बड़ी आवश्यकता है। केवल बातें बनाने से मोक्ष की सिद्धि नहीं होती। उसकी सिद्धि का कारण तो उत्तम तपादि है।

६०७. जब कभी आपके चित्त में उद्विग्नता हो तो आप स्वात्मवृत्ति क्या है? इस पर विचार करना शुरु करदो आपका चित्त स्थिर हो जायेगा।

६०८. ज्यों २ परिणामों में निर्मलता होगी त्यों २ सज्जनता व विरक्तता बढ़ती जायेगी।

६०९. जो मनुष्य अपने पर दया करता है वही दूसरों पर दया कर सकता है। आपको आपरूप देखना ही स्वदया है।

६१०. शास्त्रोक्त बात को छिपाना तथा यथार्थ बात कहने से डरना वस्तु स्वरूप की मर्यादा का लोप करना है।

६११. यदि आपने अपनी प्रवृत्ति को स्वच्छ नहीं बनाया तो इस

मानव पर्याय को पाकर क्या लाभ उठाया ? वास्तव में मानव पर्याय की सार्थकता तो तब ही हैं कि जब आप अपना-हित करने की ओर प्रयत्न करो।

६१२. प्राणी मात्र को अपना जीवन प्यारा है। इसके लिए ही प्राणी नाना प्रकार के यत्न करता है और तो क्या सर्वस्व न्यौछावर करके जीवन की रक्षा करता है।

६१३. संसार में जो अपनी प्रभुता को नहीं जानता वह इस जगत् में दोन होकर रहता है। वास्तव में अपनी शक्ति आधार से ही अपनी सत्ता है। उसका दुरुपयोग करना मानो अपना घात करना है।

६१४ प्रायः सभी प्राणी चाहते है कि हमारा कल्याण हो। परन्तु कल्याण मार्ग पर आने में विश्वास नहीं करते हैं।

६१५. जो बात सत्य है अथवा अपने स्वच्छ मन में आवे उसे कहने में क्यों हिचकिचाते हो ? यथार्थ बात कहने से मत डरो। हाँ, एक बात भी अवश्य ध्यान में रखो कि ऐसा सत्य कभी मत कहो जिसके कहने मात्र से किसी की आत्मा तक हिल उठे।

६१६. जब मानव अधम कार्य करने में आत्मीयभावों को लगा देता है तब उसकी गणना मनुष्यों में न होकर पशुओं में होती है।

६१७. यह हमेशा सोचते रहो कि संसार की जो दशा है सो रहेगी। अपने को तो सिर्फ स्वात्म गुण तथा दोषों को देखकर गुणों को ग्रहण करना है और दोषों को छोड़ना है ऐसा सोचना

चाहिये ।

६१८. यदि कोई नीच मानव स्वेच्छाचारी होकर संसार में इतस्ततः पशुवत् व्यवहार करता है तो समझलो वह अपनी छाती पर पत्थर बांधकर भव-सागर से पार होना चाहता है।

६१९. जो व्यक्ति अपनी आत्म शक्ति न पहिचान कर रात दिन संकलेश भावों से अपनी आत्मा को पीड़ित करते रहते हैं वे अपनी आत्मा को संसार गर्त में डालने का यत्न करते हैं।

६२०. मन को पवित्रता ही संसार-सागर से पार होने के लिए मानो नौका है। जो इस नाव में बैठेगा वह हमेशा के लिए इस भव-सागर से पार हो जायेगा।

६२१. संसार में चारों गतियों में दुःख ही दुःख है। कहीं भी सुख नहीं। इन सभी दुःखों को हमने अनन्तबार भुगता है। परन्तु न जाने क्यों नहीं हमें इस दुःखमय संसार से विरक्ति होती। वास्तव में यह मोह की ही अचिन्त्य महिमा है।

६२२. जो परिणाम आत्मा को एक जन्म से दूसरा जन्म प्राप्त करावे उसी का नाम संसार है।

६२३. यद्यपि जीव अमूर्त है और पुद्गल द्रव्य मूर्त है फिर भी अपनी २ योग्यतानुसार दोनों का अनादि सम्बन्ध है। परन्तु दोनों द्रव्य मिलकर भी एकरूपता को नहीं प्राप्त होते अर्थात् अपने २ स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।

६२४. यह बात निर्विवाद सत्य सिद्ध है कि संसार विपत्तिमय है। पर मोही प्राणी अनादिकाल से इसमें सुख की कल्पना करता

आया है और अपना संसार बढ़ाता रहता है।

६२५. इस मानव देह की उत्पत्ति पर विचार करें तो दिल दहल उठता है। कितने घृणित पदार्थों से इसकी रचना होती है। माता के गर्भ में पिता के वीर्य तथा माता के रज से देह की उत्पत्ति होती है। गर्भ में नौ मास तक किस प्रकार कितने २ कष्ट उठाने पड़ते हैं। इसका पूर्ण अनुभव उस समय वही जीव करता है जो गर्भाशय में रहता है।

६२६. इस मानव पर्याय में वृद्धावस्था एक ऐसी अवस्था है जिसमें मानव जीवित भी अर्द्धमृतक के समान है। सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। धर्म ध्यानादि कठिन लगते हैं मात्र तृष्णा बढ़ती जाती है। कैसी विडम्बना है?

६२७. वास्तव में संसार में सुख है ही नहीं। यदि इसमें सुख होता तो महापुरुष इसे क्यों छोड़ते? अज्ञानी प्राणी अपने अज्ञाना भाव से इष्टानिष्ट की कल्पना वस्तुओं में करते रहते हैं और रात दिन संक्लेश परिणाम करके दुर्गति के पात्र बन जाते हैं।

६२८. संसार में प्राणियों में जब क्रोध कषाय पैदा होती है तो पराये को नीचा और अपने को ऊँचा दिखाने का भाव होता है।

६२९. मिथ्यात्व के उदय में आत्मा, पर पदार्थों में आत्मीयता की कल्पना करता है। उन्हें ही आत्म स्वरूप मानता है। यद्यपि वे आत्म स्वरूप नहीं होते हैं परन्तु अज्ञानी को यह प्रतीत होता है कि ये हम ही हैं।

६३०. भ्रम से ही प्राणी अंधकार में रस्सी को सांप समझता है। अर्थात् उसके अन्तरंग में भय प्रकृति की सत्ता है। अतः भयभीत होकर भागने की चेष्टा करता है। वास्तव में रस्सी सांप नहीं है। न ज्ञान में सर्प है। परन्तु उस समय विपरीत ज्ञान के कारण सर्प जैसा भान हो रहा है। इसी प्रकार प्राणी वस्तुओं में इष्टानिष्ट की कल्पना करता रहता है। यह सब मात्र अज्ञान ही तो है।

६३१. जब इस जीव के मोहादि कर्मों का सम्बन्ध रहता है तब इसके परिणामों में विकृति रहती है। उस समय यह पर पदार्थों में श्रद्धा, ज्ञान और आचरण तीनों की प्रवृत्ति करता है। उसी समय ही ये तीनों मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र कहलाते हैं।

६३२. धर्म का अंग परिणामों की निर्मलता में है। परिणामों की निर्मलता का होना अपने ही आधीन की बात है।

६३३. जिन्होंने अपने मानव जीवन का मूल्यांकन नहीं किया, उन्होंने इस अमूल्य मानव पर्याय को पाकर आत्म वंचना ही की है।

६३४. आपत्ति आने पर भय मत करो। क्योंकि भयभीत होने से कर्म पीछा नहीं छोड़ेगा। उपाय से महान् विपत्ति भी टल सकती है।

६३५. संसार में वे पुरुष धन्य हैं, जिन्होंने कामरूपी तरंगों से व्याप्त, स्नेहरूपी जल से परिपूर्ण, कषायफेन से युक्त विषय भोगरूपी मत्स्यों से भयावह इस अगाध संसार रूपी समुद्र को तप रूपी

नौका में बैठकर पार कर दिया।

६३६. देखो ! पापोदय में मित्र शत्रु बन जाते हैं तथा पाप के उदय में पुण्य भी वज्रवत् दुःखदायी होता है; ठीक उसी तरह पुण्योदय पर वज्रपात भी पुण्य सदृश हो जाता है।

६३७. जबकि व्यावहारिक कामों में भी विनय के बिना मानव की शोभा नहीं होती, तो फिर परमार्थ कामों में तो विनय गुण प्रधान कारण है।

६३८. यह एक स्वाभाविक बात है कि अमृत पीने के बाद मुंह मीठा होता है और जहर पीने के बाद मुंह कड़वा होता है। इसी प्रकार क्षमा धारण करने पर मन प्रसन्न रहता है और क्रोध के बाद दुःखी रहता है।

६३९. संसार में आत्मा नित्य है तथा शरीर अनित्य है, जैसे समुद्र के पानी में उठने वाली तरंगें अनित्य है परन्तु समुद्र का पानी नित्य है।

६४०. सांसारिक जाल में फंसकर प्राणी रातदिन कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए मकड़ी के जालवत् संसार जाल में फंस जाता है, न तो अपनी आत्मन्नति की बात सोच सकता है और न परोपकार की।

६४१. आचार्यों ने बताया कि मनुष्य पर्याय अति दुर्लभ है, इसे पर पदार्थों के संग्रह में ही व्यतित कर देना कोई समझदारी की बात नहीं है, इसी पर्याय से मानव चाहें तो अनादिकालिन अर्जित कर्मों को काट कर मुक्ति प्राप्त कर सकता है। ●

॥ ॐ वीतरागाय नमः ॥

आत्म सम्बोधन

१. हे आत्मन् ! इस संसार में चन्द दिनों तक रहना है । क्षण भर के लिए अपने अपने दायित्व और कर्त्तव्य का पालन करने के लिए संध्याकालीन वृक्ष स्थित पक्षियों की भांति इस जग रंगमंच में प्राणी एकत्रित होते हैं और अपना अपना अभिनय समाप्त करके अपने उपार्जित कर्मों के अनुसार चारों गतियों में चले जाते हैं ।

२. हे आत्मन् ! तू प्रमाद छोड़कर निरन्तर पवित्र आत्मधर्म का स्मरण कर, एक क्षण भी इसे मत भूल । यदि तू शाश्वतिक अविनाशी सुख का इच्छुक है तो सांसारिक द्वन्द्व छोड़कर अपनी आत्मा में रमण कर ।

३. हे आत्मन् ! इस मानव पर्याय रूपी खेवटिया की सहायता से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूपी नौका पर बैठकर संसार सागर को पार कर अगर इस समय सचेत नहीं हुवा तो गहन समुद्र में गोता खाता ही रहेगा ।

४. हे आत्मन् ! जिस धन-वैभव के लिए तू रात-दिन कुटिलता करता है, वह क्षणभङ्गुर है। यह सांसारिक सम्पदा बिजली के समान चंचल है। देखते ही देखते नष्ट हो जाती है। परन्तु इस सम्पदा के लिए तू जो अत्याचार अनाचार करता है, वे कर्म तुझे जन्म जन्मान्तर में रुलाते रहेंगे।

५. हे आत्मन् ! तू पर वस्तुओं में ममत्व करके व्यर्थ में ही अनादि काल से क्षुब्ध हो रहा है। ये पर वस्तुएँ तेरी हो नहीं सकती हैं। इनका परिणमन तेरी इच्छा के अनुसार नहीं हो सकता है। तू अनादिकाल से अपने को भूला हुवा है, पर को अपना मान रहा है। यह पर का ममत्त्व ही तुझे दुःखी कर रहा है। अगर अब वस्तु के स्वभाव का विचार करके इनका ममत्त्व छोड़े तो तेरा सुख जो तेरे ही अधीन है वह प्राप्त हो सकता है।

६. हे आत्मन् ! अगर तू आत्म शान्ति का विकास करना चाहता है तो निम्न काम कर :— १. अहिंसा से मैत्री २. सत्य में विश्वास ३. अचौर्य से निष्कपटता ४. ब्रह्मचर्य से तेज और ५. परिग्रह त्याग से निर्लोभता प्राप्त करके अपने स्वरूप में रमण कर।

७. हे आत्मन् ! तुझे कर्मों का नाश करने का मानव पर्याय रूपी अपूर्व अवसर मिला है। यदि इस समय में भी सजग नहीं हुआ तो पुनः नरक निगोद में भटकना पड़ेगा। इस मानव जन्म की सफलता चाहता है तो तत्काल ही बिना प्रमाद के अपना आत्म गौरव संभाल और सुखी होजा।

८. हे आत्मन् ! ये विषय सुख आत्मा का पतन करने वाले हैं। ये पचेन्द्रिय और मन के बेलगाम घोड़े इस आत्मारूपी सवार को दुर्गतिरूपी गर्त्त में डालकर नष्ट कर देंगे।

९. हे आत्मन् ! दुर्जनकृत उपसर्गों को शीतल सुगन्धित फव्वारे समझ, दुर्जनों के कटुवचनो को कोमल, सौरभयुक्त पुष्पावली जान। ये लौकिक आपत्तियाँ तेरे सहनशीलता की परीक्षा के लिए आई हैं, अगर परीक्षा वेला में तू उत्तीर्ण हो गया तो ये सब आपत्तियाँ पराजित होकर स्वयं ही चली जायेगीं और तेरी विजय हो जायेगी।

१०. प्राणी जिस पर्याय में जाता है वहीं स्थायी रूप से स्थित रहने की इच्छा करता है जिसमें मानव अपने आपको भूल जाता है। वास्तव में जिस मानव के हृदय में आत्म तत्त्व का विश्वास नहीं है वही मोह ममता से जकड़ जाता है और भव-तृष्णा की जंजीर से जकड़ा हुआ संसार में परिभ्रमण करता है।

११. हे आत्मन् ! इस संसार में प्रत्येक प्राणी अपने पूर्वोपार्जित कर्मों के अनुसार जन्म और मरण को धारण करता हुआ अनादि-काल से परिभ्रमण कर रहा है। प्रत्येक प्राणी के साथ तेरा कुटुम्ब रूप में सम्बन्ध हो चुका है। अर्थात् संसार के तीन सौ तैंतालीस रज्जुमय लोकाकाश के मध्य एक ऐसा प्रदेश भी शेष नहीं रहा जहाँ पर तू ने जन्म न लिया हो। ऐसा पुद्गल का कण भी नहीं बचा जिसको तू ने भोगकर न छोड़ा हो।

१२. हे आत्मन् ! भोगकर वमन किये हुए के समान इन भौतिक

पदार्थों से ममत्त्व छोड़। वास्तव में देखा जाय तो इन भौतिक पदार्थों का ममत्त्व ही ससार परिभ्रमण का कारण है। इस संसार में जिन्होंने इन पर वस्तुओं का परित्याग किया वे ही अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुखमय आत्मिक गुणों का विकास करके मोक्ष सुख को प्राप्त कर सके।

१३. जो प्राणी पर पदार्थों के ममत्त्व में फंसे रहे, वे इस संसार में जन्म-मरण के दुःख में फंसे हुए हैं। अब हे आत्मन् ! अनादि-काल से संसार में परिभ्रमण करते-करते, महान् पुण्योदय से यह मनुष्य पर्याय प्राप्त हुई है। इसको व्यर्थ में नष्ट नहीं करना चाहिये।

१४. हे आत्मन् ! इस तेरे मनरूपी बन्दर को श्रुतरूपी वृक्ष के तपरूपी सांकल से बांधकर वश में कर। अन्यथा यह तेरे शील, तपरूपो बगीचे का नाश कर तुझे दुःखी बना देगा।

१५. हे आत्मन् ! आशारूपी बडवानल से व्याप्त, इन्द्रिय, विषय सम्बन्धी खारे जल से परिपूर्ण इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग रूप मछलियों से भरे हुए संसार समुद्र को पार करने के लिए रत्नत्रयरूपी नाव में बैठजा। अन्यथा इस दुःखमय भव-सागर से निकलना कठिन है।

१६. हे आत्मन् ! किसी के द्वारा की हुई अपनी प्रशंसा और स्तुति सुनकर मान के पर्वत पर आरुढ मत हो तथा शत्रुओं के द्वारा की हुई निन्दा सुनकर क्रोधित न हो। प्रशंसा की अपेक्षा

निन्दा मानव का हित करने वाली है। वास्तव में निन्दा करने वाला मानव को भूल और दुर्बलता दिखाकर आत्म संशोधन में सहायता पहुंचाता है।

१७. हे आत्मन् ! प्रशंसा करने वाले मित्र हैं और निन्दा करने वाले शत्रु हैं, ऐसी कल्पना ही मत कर। क्योंकि कभी स्वार्थी दुष्ट प्रकृति के लोग अपना स्वार्थ साधने हेतु निरर्थक प्रशसा और चाटुकारिता द्वारा मन लुभाने की चेष्टा करते हैं और तुझे सन्मार्ग से च्युत करके आनन्दित होते हैं।

१८. हे आत्मन् ! यदि तेरे हितैषी तेरी त्रुटियों से व्यथित होकर तुझे निर्दोष और दोष शून्य बनाने की सदिच्छा से अगर तेरी समालोचना करते हैं तो तू उन्हें शत्रु न समझकर मित्र ही समझ। उनका अन्तिम परिणाम तेरे ही हित में होगा। जैसे कटु औषधि पीने से तन का रोग नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार स्तुति कारक की अपेक्षा निन्दक श्रेष्ठ है।

१९. हे आत्मन् ! जिस प्रकार क्षुद्र बीज के भीतर एक महान् वृक्ष की विराट् काया आत्म संकोच करके छिपी रहती है, उसी प्रकार इस क्षुद्र देह में अनन्त शक्तिशाली आत्मा छिपी हुई है। अगर तू चाहे तो भेद ज्ञान की ध्वनि द्वारा जागृत कर आत्मशोधना द्वारा स्वात्मोपलब्धि प्राप्त कर सकता है।

२०. हे आत्मन् ! जिस समय तुझे आत्मज्ञान का भान हो जायेगा उस उमय जगत की कोई भी शक्ति तेरे पर शासन नहीं कर सकती तथा कोई भी प्रलोभन तुझे प्रलुब्ध करने में समर्थ नहीं

हो सकती। कोई भी दुःख, अशान्ति, पाप, रोग, तापमय भावना तेरे निकट आने का साहस नहीं कर सकती।

२१. हे आत्मन्! आत्महित के लिए कुछ करनी करो जब ही तुम्हारा कल्याण होगा और दूसरों का भी उपकार होगा। संसार में मानव केवल कथनी नहीं चाहता वह चाहता है करनी, केवल सुनना नहीं चाहता वह चाहता है तुम्हारे में वैसी कृति।

२२ हे आत्मन्! बड़े-बड़े आध्यात्मिक उपदेश सुनने की अपेक्षा यदि थोड़ा भी करके दिखा सको तो वह सहस्र गुण शक्ति-शाली होकर लोगों के मन पर अद्भुत प्रभाव का विस्तार करेगा और करनी करने से ही तुम्हारी साधना, चेष्टा तथा शास्त्रों का कथन कार्यकारी हो सकेगा।

२३. हे आत्मन्! भगवद् वाणी ही मिथ्यात्व तिमिर से तिरोभूत हुई दृष्टि को खोलने के लिए अंजन के समान है। संयम रूपी पुष्प वाटिका को प्रफुल्लित करने वाली है। कैसो है महा-पुरुषों की वाणी? ध्यान रूपी वृक्ष को उखाड़ने वाले विषय-कषाय रूपी खूंखार पशुओं का संहार करने वाली हैं।

२४. हे आत्मन्! अगर तू मुक्तिरूपी कन्या को प्राप्त करना चाहता है तो तुझे सम्यग्दर्शन का नगर तप संवर की अर्गला से युक्त, क्षमारूपी दृढ परकोटे से सुरक्षित, तीन गुप्तिरूपी खाई से शोभित, क्रोध, मान, माया, लोभरूपी शत्रुओं से अजेय, चारित्र रूपी दुर्ग में बैठकर पराक्रम रूपी धनुष को पंच समिति रूपी

प्रत्यञ्चा पर चढा, धृतिरूपी मूठ से पकड़ कर सत्यरूपी चाप के द्वारा खींचकर, तपरूपी वाण से कर्मरूपी शत्रु का नाश कर देना चाहिये।

२५. हे आत्मन् ! चार-दाह के दावानल में संतप्त इस संसाररूपी अटवी में तुझे भ्रमण करते-करते अनन्त काल व्यतीत हो गये। परन्तु अभी तक सही मार्ग नहीं मिला। अब इस समय यह उत्तम मनुष्य पर्याय, उत्कृष्ट धर्म, अत्यन्त दुर्लभ संयम प्राप्त हुआ है। इस स्वर्णिम अवसर को मत खो।

२६. हे आत्मन् ! अगर तू संसार से उकता गया है तो सम्यग्ज्ञान का प्रदीप प्रज्ज्वलित करके संयम की लगाम से युक्त, त्याग के घोड़ों को जोतकर तपश्चरणरूपी रथ पर सवार हो जा। सन्तोष, सलिल और अनुकम्पा पाथेय लेकर आगे बढ जा। साहस, स्वाध्याय, सहानुभूति तत्त्व चिन्तन, वस्तु स्वरूप के विचार रूपी परिवार की बरात लेकर मुक्ति रूपी रमणी का वरण कर। अन्यथा यह मानव पर्याय समाप्त होते ही न जाने कौनसी पर्याय में जाना होगा और असह्य दुःखों का सामना करना होगा।

२७. इस संसार में जब तक मानव का निर्मल अगाध हृदयरूपी सरोवर राग द्वेषरूपी लहरों से व्याप्त तथा मोहरूपी नक्र-चक्रों से भरा हुआ है तब तक सम्यग्दर्शन आदि गुण उसका आश्रय नहीं लेंगे। अतः हे आत्मन् ! सम, दम और यम के द्वारा सर्व प्रथम इसको जीतने का प्रयत्न करना चाहिये।

२८. हे आत्मन् ! अगर संसार-समुद्र से पार होना चाहता है तो विचार कर कि कैसा है ? संसार-समुद्र आशारूपी बड़वानल से व्याप्त इन्द्रिय विषय सम्बन्धी खारे जल से परिपूर्ण, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोगमय मगरमच्छों से भरा हुआ है। इस संसार-समुद्र को पार करने के लिए रत्न-त्रय रूपी नौका में बैठकर पार होना चाहिए।

२९. हे आत्मन् ! विषमता-रूपी उष्णता से व्याप्त संसार रूपी मरुस्थल में मोक्षरूपी महा फल देने वाला जिन धर्म ही कल्प-वृक्ष है। अतः सांसारिक झंझटों से मुख मोड़कर क्यों नहीं अपना आत्महित करता है। अगर समय रहते प्रमाद किया तो फिर इस भव बन में तेरा कौन सहायक है ? ऐसा बार-बार विचार कर।

३०. हे आत्मन् ! यह मानव-जीवन पानी के बुद-बुदे के समान क्षण-भंगुर है। तृष्णा के वश होकर संकल्प-विकल्प के अधीन मत बनो। अतः आचार्यों ने बताया कि उत्तम मनुज तन पाकर विषय-विष खाकर नहीं मरना चाहिये।

३१. हे आत्मन् ! प्राणी मात्र के साथ सद् व्यवहार करो। अपने मन से किसी का बुरा मत करो तथा अपने वचन से कटु एवं असत्य वचन मत बोलो और अपने काय से किसी का घात मत करो। वास्तव में मन, वचन और काय की सरलता ही संसार नाशक है। जबकि मन, वचन और काय की कुटिलता कर्म-बन्धन का हेतु है।

३२. हे आत्मन् ! पर पदार्थों का ममत्त्व संसार का कारण है अर्थात् कर्मबन्ध का जाल है अथवा पर पदार्थों का ममत्त्व ही संसृती कारागृह में डालने वाला है। वास्तव में परद्रव्यों का ममत्त्व ही आत्मध्यान को नाश करने के लिए काल कूट हला हल विष है तथा आत्म के स्वरूप को भुलाने के लिए मदिरावत् है। अतः इन क्षणिक पर वस्तुओं पर मोहित होकर मत फूलो।

३३. हे आत्मन् ! परमात्मा के ध्यान बिना मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। यह भक्ति ही संसार नाशक परम दिव्यौषधि है तथा चिन्तित फल देने के लिए चिन्तामणि तुल्य है। अर्थात् संसार के ताप से तप्तायमान प्राणियों के लिए अमृतकुण्ड है। मिथ्यात्त्वरूपी अंधकार को नाश करने के लिए सूर्य तुल्य है।

३४. हे आत्मन् ! संकल्प-विकल्पों के जाल से निकलने के लिए आत्म ध्यान रूपी वाहन में आरूढ हो जाओ। इस संसार रूपी अग्नि के ताप को शांत करने के लिए आत्म रूपी सागर में अवगाहन करो।

३५. हे आत्मन् ! देखो इस मोही जीव की विचित्र अवस्था है। बाह्य पदार्थों का संग्रह उपयोग, उपभोग के द्वारा अपने मनो-देवता और इन्द्रियों को परितृप्त करने का रात दिन प्रयत्न करते हुए भी इसे शांति नहीं मिलती है। फलतः तृष्णा आग से उत्तरोत्तर दुःखी होता है।

३६. हे आत्मन् ! जीवादि तत्त्वों का सम्यग्श्रद्धान होना ही सम्य-ग्दर्शन है। ऐसा सम्यग्श्रद्धान होना ही सम्यग्दर्शन है। ऐसा

सम्यग्दर्शन भव-सागर से तिरने के लिए खेवटिया के समान है। सम्यग्दृष्टि प्राणी संसार शरीर भोगों से उदासीन रहते हैं तथा संसार के पदार्थों में ममत्त्व नहीं करते हैं।

३७. हे आत्मन् ! अन्तरङ्ग की शुद्धि बिना केवल बाहरी त्याग से संसार से छुटकारा नहीं हो सकता। पांच पापों का त्याग करना बहिरंग चरित्र है तथा समस्त विकल्प जाल को छोड़कर अपनी आत्मा में स्थित होना अन्तरंग चरित्र है। दोनों चारित्रों की प्राप्ति से मुक्ति लाभ होता है।

३८. हे आत्मन् ! सम्यग्दर्शन एक प्रज्ज्वलित दीपक है। जिससे मिथ्यान्धकार से व्याप्त संसार बन में भटकते हुए प्राणियों को प्रकाश मिलता है। अर्थात् हेय उपादेय का ज्ञान होता है।

३९. हे आत्मन् ! तू क्षमा रूपी बृक्ष का आश्रय ले। कैसा है वह बृक्ष ? मोक्ष फलदायक, संसार ताप नाशक तथा परम शान्ति का स्थान है। इष्ट वियोग-अनिष्ट-संयोगादि जन्य संताप नष्ट करने वाला है। वास्तव में क्षमा के बराबर संसार में कोई मित्र नहीं है।

४०. हे आत्मन् ! लौकिक कामों का ज्ञान करना तो सरल है। क्योंकि तू इनसे तो अनादि काल से परिचित है। परन्तु परमार्थिक ज्ञान का अवलोकन होना अत्यन्त दुष्कर है। जिसके अध्ययन से दुष्कर है। जिसके अध्ययन से अन्तःकरण का अवलोकन होता है।

४१. हे आत्मन् ! संसार एक नाट्यशाला है, जिसमें तूने ८४ लाख

योनियों में भटकते हुए व्यतीत किये, बार बार स्वांग बदल-बदल कर जन्म-मरण के दुःखों को भोगता रहा। अपनी अनन्त वैभवशाली आत्मा की श्रद्धा के बिना पर पदार्थों को अपनाता रहा और रूलता रहा।

४२. हे आत्मन्! तेरे बाहरी वैभवों से अनन्तगुणा वैभव इस तेरी आत्मा में मौजूद है। परन्तु न जाने तेरे पर कोई कर्मरूपी पिशाच चढ़ गया है जो तू अपने में ही अटूट धन के खजाने को न देखकर दीन की तरह बाहरी वैभव को रोता रहता है।

४३. हे आत्मन्! तूने हाड, मांस का शरीर अनन्त बार प्राप्त करके छोड़ा है। परन्तु उन अपवित्र शरीरों ने तुझे आजतक एक बार भी साथ नहीं दिया। यदि इस अपवित्र शरीर से तू एक बार ही संयम धारण करके आत्महित करले तो तेरा बेड़ा पार हो सकता है।

४४. हे आत्मन्! अगर तू सुख चाहता है तो अपनी बढ़ती हुई तृष्णा और कषायों को कम कर। जितनी जितनी तेरी तृष्णा और कषायें कम होगीं उतनी २ ही शान्ति तेरे में बढ़ती जायेगी।

४५. हे आत्म न्! तू ने अनन्त पर्यायों में आजतक नये नये शरीर धारण कर शारीरिक स्वास्थ्य को कायम रखने का निष्फल प्रयत्न किया। अब इस विषय पर तनिक विचार कर कि क्या इस नाशवान् शरीर को कोई साथ लेकर गया? जिसके लिए तू रात दिन इस अपवित्र शरीर का गुलाम बन रहा है।

४६. हे आत्मन् ! इस नाशवान् असार शरीर की चिन्ता क्यों करते हो। अपने आत्म चिन्तवन का उपाय करो। जो कर्म उदय में आते हैं, उनको साहस से सहन करो। इन कर्मों के गढ़ को तोड़नें के लिए आत्म चिन्तवन ही उत्तम उपाय है।

४७. हे आत्मन् ! तू आत्मबोध के अभाव में अनादिकाल से संसार परिभ्रमण कर रहा है। अनेक बार तरह २ की योनियों में जन्म मरण कर चुका है। परन्तु सम्यक्त्व के अभाव में संसार बढाता ही गया।

४८. हे आत्मन् ! अगर तुम शाश्वत और निराकुल सुख चाहते हो तो अपने अन्दर बैठे हुए काम, क्रोध, मान, माया, लोभादि शत्रुओं को मार भगाओ फिर तुम्हें किसी की शरण लेने की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी।

४९. हे आत्मन् ! तुम अपने भीतर देखो और सोचो कि मैं तो ज्ञानमयी आत्मा हूँ। फिर अपने भीतर जो चिरकाल से दोष बैठे हुए हैं; उन्हें ढूंढने में तनिक भी संकोच न करो तथा कठोर हृदय होकर अपने दोषों को मार भगाओ अर्थात् अपने में जो भी नीच और कुत्सित विचार मिलें उन्हें त्याग दो तो उस समय तुम्हारा चैतन्य आत्मा का सही स्वरूप विकसित होना शुरु हो जायेगा।

५०. हे आत्मन् ! इस असार संसार में तू ने अनादिकाल से आज तक कितने कितने भोग भोगकर छोड़े। परन्तु तेरी तृप्ति नहीं हुई तो क्या अब इस पर्याय के तुच्छ भोगों से तुझे तृप्ति आ

जायेगी ? अर्थात् नहीं। अब तेरा परम कर्तव्य है कि इन भोगों से अपना मुंह मोड़कर यथार्थ बात को समझ और अपने को सन्मार्ग पर लगाकर हमेशा २ के लिए सुखी होजा।

५१. हे आत्मन् ! जिन २ पदार्थों को तू अपने मानता है तथा उनके मिलने बिछुड़ने पर हर्ष विषाद करता है। परन्तु सच तो यह है कि वे पर पदार्थ तेरे हैं ही नहीं। उनका सम्बन्ध तेरे साथ धूप छाया के समान होता है और मिटता है। अगर प्राणी इनको अपना न मानकर अपने में आपको आप ही देखने लग जावे तो फिर ज्ञानदर्शनोपयोगधारी आत्मा ही रह जावेगी।

५२. हे आत्मन् ! सोचो अगर तुम भोगों को भोगने में इस अमूल्य मानव जीवन के यौवन काल को व्यतीत कर दोगे। जब वृद्धावस्था आयेगी तब तुम्हारी कौन रक्षा करेगा ? किसकी शरण लेवोगे ? यह एक समस्या है अतः इसका समाधान सोचो।

५३. हे आत्मन् ! तू अपने चित्त में हमेशा ही विचार कर कि एक दिन यहाँ से मरना है। परन्तु मरकर कहाँ और किस पर्याय में जाना है ? वहाँ पर क्या २ साधन मिलेंगे ? कौन २ साथ जायेंगे ? इस तरह से यदि विचार करेगा तो निश्चित ही तुझे यह संसार असार दिखने लगेगा।

५४. हे आत्मन् ! यह संसार संयोग, वियोग, सुख, दुःख, हर्ष-विषाद का संगम स्थल है। संसार के प्राणी स्वयं अपने बनाये हुए कर्मजाल में मकड़ी के समान फंसकर छटपटा रहे हैं।

परन्तु मोहवश छोड़ना नहीं चाहते हैं, यह एक अज्ञान का महात्म्य है।

५५ हे आत्मन् ! कर्मों के वशीभूत होकर प्राणी नट के समान विविध रूप बनाकर भव भ्रमण में भटकते रहते हैं। अतः तू इस मोह-ममता में मत फंस। वास्तव में यह संसार ठगों का नगर है। ये कुटुम्बीजन ठग हैं। ये लोग तेरी ज्ञान-सम्पदा का नाश करके तुझे दर-दर का भिखारी बना देंगे।

५६. हे आत्मन् ! चारों गतियों में एक मानव पर्याय ही सर्वोत्कृष्ट है। यदि तुमने इस दुर्लभ मानव तन को प्राप्त कर संयम की साधना का प्रयत्न नहीं किया तो इस दुःखमय संसार में शारीरिक और मानसिक दुःखों को भोगते हुए संसार में परि-भ्रमण करते ही रहोगे। अतः मनुज भव की सार्थकता कर्मों पर विजय प्राप्त करने में ही है।

५७. हे आत्मन् ! यह तेरा दुर्लभ मानव जीवन तीव्र गति से बीतता जा रहा है। परन्तु सांसारिक भोगों की तृष्णा में फंसा हुआ तू इस मनुष्य जन्म की कीमत नहीं जानता है। अतः अब तेरा कर्त्तव्य है कि मानव-पर्याय का सदुपयोग करने के लिए आत्म कल्याण करने का प्रयत्न कर।

५८. हे आत्मन् ! तू ने अनादिकालीन राग-द्वेष रूपी पिशाच के वशीभूत होकर इस घोर संसार में परिभ्रमण करते हुए ८४ लाख योनियों में एक भी ऐसी योनि नहीं छोड़ी जहाँ जन्म न लिया हो। क्या अब तुझे इस दुःखमय संसार से

ग्लानि नहीं होती।

५९. हे आत्मन् ! इस दुःखमय संसार में वीतराग धर्म को छोड़कर और कोई तेरा रक्षक नहीं है, वरन् तेरे भक्षक हैं। तुझे संसार में रुलाने वाले हैं। अतः इनसे सावधान हो जा। वास्तव में तेरी आंखों पर मिथ्यात्व की पट्टी बंधी हुई है। तू अपने आपको भूला हुआ है। अब भेद ज्ञान द्वारा अपने को पहिचान कर अपने आप में आजा।

६०. देखो ! अष्टकर्म रूपी रज्जू से बन्धी हुई आत्मा शरीर रूपी कारागृह में पड़कर अनन्त दुःखों को भोग रही है। हे आत्मन् ! इस समय तुझे अपूर्व अवसर मिला है। अगर तू चाहे तो तत्वज्ञान रूपी छैनी लेकर कर्मरूपी शृंखला को तोड़ सकता है और देहरूपी कारागृह से मुक्त होकर हमेशा के लिए स्वतंत्र अविनाशी अनुपम सुख को प्राप्त कर सकता है।

६१. हे आत्मन् ! तुम अपना हित चाहते हो तो किसी के द्वारा की हुई अपनी बुराइयों को सुनकर दिल में गम मत करो। अपना दिल स्वच्छ रखो। गन्दीमिट्टी की दीवार पर ही धूल चिपकती है स्वच्छ संगमरमर की दीवार पर नहीं।

६२. हे आत्मन् ! तुझे इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग और आधि-व्याधिरूपी संकुलित संसार में भ्रमण करते २ अनन्तकाल व्यतीत हो गया। यदि इस मानव पर्याय में सचेत नहीं हुआ तो इस गहन संसार में रोता ही फिरेगा। अतः तेरा कर्त्तव्य है कि मानने में ही प्राप्त होने वाले भेद ज्ञान द्वारा अन्तर दृष्टि

को खोल और स्वयं को पहिचान। तू अनन्त सुख का भण्डार है। पर की ममता छोड़कर अपने में रमण कर।

६३. हे आत्मन् ! तू इन्द्रियों को निरोध करने का प्रयत्न कर। क्योंकि यह इन्द्रिय-दमन एक अद्वितीय शस्त्र है जिसकी सहायता से तू रागद्वेष मोह रूपी शत्रुओं का नाश कर सकता है, स्वराज्य प्राप्त कर सकता है। इन्द्रियदमन एक अद्‌भुत किला है, जिसमें बैठकर आत्मा अनेक प्रकार के रोग शोकादि के आक्रमण से बच सकता है। इन्द्रिय-दमन एक अनुपम अमृत है जिसके पान करने से आत्मा अजर अमर बन जाता है।

६४. हे आत्मन् ! जिनको तू अपना समझता है वे कुटुम्बीजन तेरे इस मनोज्ञ शरीर को जलाकर भस्म कर देगें। एक क्षण भर भी घर में रखने को तैयार नहीं होंगे। अतः इनका ममत्व छोड़-कर अविनाशी आत्मीय वीतराग धर्म की शरण ग्रहण कर ले। यही तेरा सच्चा रक्षक है और सब तो भक्षक हैं।

६५. हे आत्मन् ! कर्मरूपी जाल में फंसी हुई मीनरूपी आत्मा को इस विकराल कालरूपी धीवर के हाथ से बचाने के लिए संसार में कोई भी समर्थ नहीं है। इस संसार में मानसिक और शारीरिक दुखरूपी दावानल से जलते संतप्त प्राणियों के लिए एक मात्र धर्म ही शान्ति-दायक है, अतः इसी का पान कर।

६६. हे आत्मन् ! विषधर से विषम दुःखरूपी गर्मी से संतप्त संसार रूपी वन में मोक्षफल को देने वाला एक जिनधर्म ही कल्पवृक्ष

के समान है। अतः परम शान्ति प्राप्त करने हेतु तू इसका आश्रय ले। वरना इस अनन्त संसार से छुटकारा नहीं हो सकता है। अब तेरा हित तथा अहित तेरे ही हाथ है जैसा तुझे इष्ट हो वैसा ही कर।

६७. हे आत्मन्! यह मन एक दुर्जय शत्रु है। यह अशिक्षित दुष्ट घोड़ा है। चारों गतियों में भ्रमण करा रहा है। अतः तत्त्व-विचार रूपी लगाम से इसको वश में कर। अन्यथा यह दुष्ट तुझे विषयरूपी गढ़े में डालकर पीड़ित करेगा।

६८. हे आत्मन्! तू अनन्त गुणों का भण्डार है। ये कषाय और इन्द्रिय ठग तेरे ज्ञानधन को लूटने वाले हैं। तू इनसे सावधान रह। अब यदि तू ने थोडा सा भी प्रमाद किया तो ये चोर तेरी सम्पदा को लूटकर ले जायेंगे।

अतः इस मानव पर्याय के सुअवसर पर सावधान होकर अपने ज्ञान-दर्शनरूपी धन को बचाले। वरना समय निकलने पर तू हाथ मल-मलकर रोवेगा। इसके अलावा और तेरे हाथ कुछ नहीं रहेगा।

६९. इस असार संसार का वैभव, कुटुम्बियों का सम्बन्ध कमल दल पर पड़ी हुई जल बिन्दु के समान स्थिर है। कर्मों के कारण विभाव भाव के वशीभूत होकर घनघोर भंयकर अशुचि, असह्य, वेदना कारक गर्भवास में नाना प्रकार के दुःख सहे। क्या तुझे इसी जन्म में सहे दुखः याद नहीं आते? यदि उन दुःखों से भयभीत है तो रागादि भावों से रहित होकर अपने

शुद्ध चैतन्य घन परमात्मा का ध्यान कर।

७०. हे आत्मन ! संभलो, अभी से संभलो। अचानक ही मृत्यु आ जाने से क्या पता संभल पायें अथवा न संभल पायें। अतः अभी से संभलोगे तो मृत्यु के समय भी संभल जाओगे और समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त कर अनन्त दुःखों से सदा के लिए छूट जाओगे।

७१. राग की आग में यह जीवात्मा भुन रहा है और सांसारिक पदार्थ उस आग को बढ़ाने में ईंधन बन रहे हैं। अतः हे आत्मन् ! जरा सोचो कि यह सब तुझे जलाने के लिए राग आग का ईंधन है। इस ईंधन को बटोर कर खुद मत जलो।

७२. हे आत्मन् ! अपने अनन्त ज्ञान, दर्शन, शक्ति, सुख और स्वभाव को देखो। यदि तू यश, मान, वैभव पर ही इतराता रहा तो तू अनन्त ऐश्वर्य से हाथ धो बैठेगा।

७३. हे आत्मन् ! अन्त में तो सब कुछ छोड़ना होगा या जीवन में ही स्वयं नष्ट हो जायेगा। अतः अच्छा है कि तुम पहिले से ही सावधान होकर सबसे उपेक्षित होकर समतामृत का पान करो।

७४. हे आत्मन् ! इस नश्वर लोक में तेरा कौन साथी है ? कौन रक्षक है ? क्या सार है। किसके लिए रात-दिन पापाश्रव कर रहे हो ? निज पवित्र ज्ञानदृष्टि से च्युत होकर घोर दुःखमय संसार को बढ़ा रहे हो। अब निज स्वरूप को पहिचानो और देखकर सुखी हो जावो।

७५. हे आत्मन् ! इस मानव भव में न चेते तो फिर नरक तिर्यञ्च-योनि में न जाने कब तक भटकना पड़ेगा ? बड़े खेद की बात

है कि जो श्रेष्ठ पर्याय को पाकर भी आत्महित नहीं करते।

७६. हे आत्मन् ! यह मानव जन्म अति दुर्लभ है। इसे प्राप्त करके आत्महित न करना महामूर्खता है। जिन्होंने आत्महित किया वे महान् कृतकृत्य हो गये।

७७. हे आत्मन् ! पर पदार्थों का परिणमन तेरे आधीन नहीं है व्यर्थ ही तू अज्ञानवश पर के निमित्त विकल्प करके आकुलित हो रहा है।

७८. हे आत्मन् ! मन को रमाने के लिए स्वाध्याय से बढ़कर अन्य साधन नहीं है। अतः अपने लक्ष्य को स्वाध्याय में लगाना ही सर्वोत्तम है। अतः आचार्यों ने स्वाध्याय को अन्तरंग तप कहा है।

७९. हे आत्मन् ! तुम तो अकेले ही थे, अकेले ही हो और अकेले ही रहोगे। इस तरह सर्वदा अपने को अकेला अनुभव करने वाला व्यक्ति ही पर जनित दुःखों से छुटकारा पा सकता है।

८०. हे आत्मन् ! अशुभोपयोग से हटो। क्योंकि अशुभोपयोग किसी भी प्रकार सुख का कारण नहीं है। जब तक शुद्धोपयोगी न बनो तबतक शुभोपयोगी ही बनो। क्योंकि शुभोपयोग के बिना शुद्धोपयोग होना कठिन है।

८१. हे आत्मन् ! रक्षक कहो, मित्र कहो, सुख कहो, सबकुछ धर्म ही है। इन सब में शब्दान्तर है पर अर्थान्तर नहीं।

८२. हे आत्मन् ! तुम्हारे दुःख का कारण तुम्हारा ही मोह और राग-द्वेष भाव है। अतः आत्मस्वभाव के चिन्तन द्वारा उन

परिणामों को दूर करने का प्रयत्न करो । जो सच्चा सुख तुम्हारे अन्दर विद्यमान है वह निखर जावेगा और दुःख से छुटकारा मिल जावेगा ।

८३. हे आत्मन् ! तू ने कितने इष्ट वियोग और अनिष्ट-संयोग जनित आपत्तियाँ सहन की हैं । उनमें हर्ष-विषाद करके संसार-सागर में गोते खाता रहा । अब अगर तू भवाताप से निकलना चाहता है तो उठ और संयम धारण करके निज स्वभाव में रमण कर । ताकि हमेशा हमेशा सुखी हो जावे ।

८४. हे आत्मन् ! जो तुमने पूर्वोपार्जित पाप किये हैं उनका फल तो तुम्हें ही भोगना है । शांति से सहो चाहे रोकर सहो । याद रखो कि शांति से सहोगे तो उदय में आया हुवा कर्म अपना फल देकर चला जायेगा । अगर अशांति करोगे तो उसका फल तुम्हें ही भोगना पड़ेगा । परन्तु भविष्य के लिए अनेक पाप नये बंध जायेंगे जो भवभवान्तर में भोगने पड़ेंगे ।

८५. हे आत्मन् । संसार के जाल में कब तक फंसे रहोगे ? जब-तक इस संसार के जाल में फंसे रहोगे तबतक दुःखी रहोगे । अतः संसार की ममता छोड़कर तनिक अपना ध्यान करो और सुखी हो जाओ ।

८६. हे आत्मन् ! तू ने इस संसार के दुःख उठाते २ अनन्तकाल बिता दिया । वास्तव में वह दुःख भी क्या ? केवल ममता । अतः ममता छोड़कर मात्र समता ग्रहण कर लो । जिससे संसार रूपी दुःखों से छुटकारा मिल जावे ।

८७. हे आत्मन् ! तू तो स्वयं ज्ञानमय है। फिर सुख शांति के लिए पर की आशा क्यों कर रहा है ?

८८. हे आत्मन् ! जब तुम अपने आप सुखी नहीं हो रहे हो तब क्या पर-पदार्थों से सुखी हो जाओगे ? वास्तव में तुम तो सहज सौख्यमय हो।

८९. हे आत्मन् ! परपदार्थों के उधेड़ बुन में क्यों समय खोते हो। जो होना है वह तो होकर ही रहेगा। तुम तो अपने सम्बन्ध में यह सोचो कि मेरा हित कैसे हो ?

९०. हे आत्मन् ! जीवन का कोई विश्वास नहीं है। किस समय मृत्यु आकर ले जायेगी। फिर क्या होगा ? जो सबका हुआ सो होगा। जिस शरीर को पालते हो, पोषते हो और जिसके कारण अपने आपको भी भूलते हो वह शरीर आग में जलकर खाक हो जायेगा। अतः जीवन के सुन्दर क्षणों में कुछ आत्महित कर जाओ तो हमेशा के लिए सुखी हो जाओगे।

९१. हे आत्मन् ! इस संसार में मालिक कोई दिखाई नहीं पड़ता ? सभी चौकीदार या मुनीमजी मालूम हो रहे हैं। क्योंकि यदि कोई मालिक होता तो अपनी धन सम्पत्ति को साथ ले जाता। मगर ऐसा देखने में नहीं आता।

९२. हे आत्मन् ! मरना तो एक दिन निश्चित है। इस शरीर को छोड़कर जाना है। शरीर को जलाकर लोग खाक भी कर देंगे। जैसे हमने औरों के शरीर जलाये या जलाते देखा है तो फिर अज्ञान वश इस शरीर के प्रति ममत्व क्यों ? अब भी

कुछ नहीं गया है। ममत्व बुद्धि छोड़ो।

९३. हे आत्मन् ! तू तो स्वयं ही आनन्दमय है। फिर क्यों अपने निजी सुख को भूलकर दुःख की कल्पना करता है ?

९४. हे आत्मन् ! जो तुमने पूर्व पुण्य किया है उसके क्षणिक उदय का फल वैभव तथा पुत्र मित्रादि का संयोग है। स्वाधीन नहीं है। इसमें क्या मगन होना ? इन सबको क्षणिक जानकर स्थायी आत्म सुख की ओर देखो।

९५. हे आत्मन् ! परिग्रहों की संग्रह करने की बुद्धि करके क्यों परिश्रम और क्लेश बढ़ाते हो। कितनी मूढ़ता है कि अपने हित को छोड़कर पर-पदार्थों में रत हो रहे हो। अतः अब अपनी ओर देखो और शांत हो जाओ। यह सब धोखा है।

९६. हे आत्मन् ! वयोवृद्ध, संयमवृद्ध, ज्ञानवृद्ध तथा चारित्र्यवृद्ध के निकट रहने का लक्ष्य रखो। उनका समागम गुण विकास का कारण है।

९७. हे आत्मन्। तू ने अनन्त भव बिता दिये। जिनमें अनन्त भोग भोगे। परन्तु तेरी तृप्ति नहीं हुई। तृप्ति होने का कारण तो उन भोगों से मुंह मोड़ना है।

९८. हे आत्मन् ! पर वस्तुओं को जबरन क्यों अपनाते हो ? जबकि ये अपनी होती ही नहीं। यदि अज्ञानवश अपनाओगे तो एक दिन ये नष्ट तो जरुर होगी ही, तब तुम्हें बहुत क्लेश होगा।

९९. हे आत्मन् ! तू अकिञ्चन है। इस जगत् में तेरा कुछ भी

नहीं है। तेरा तो सिर्फ तूं ही है। पर द्रव्यों से बुद्धि हटाकर शांति वृक्ष की छाया में बैठकर भ्रम का संताप दूर कर। इसी में तेरी भलाई है।

१००. हे आत्मन् ! अपना हित व अहित अपने ही भावों में है। अतः हित प्राप्त करने और अहित से बचने के लिए अपने भावों को संभालो।

१०१. हे आत्मन्। थोड़ासा तो जीवन है और उसका भी विश्वास नहीं। तुम विकल्प साधन बहुत कर रहे हो, क्या यह शांति मार्ग है ?

१०२. हे आत्मन् ! तू अनादि-काल से इस शरीर का व्यामोह करता आ रहा है और अपने ज्ञान, दर्शनमयी आत्मा की ओर नजर तक नहीं दौड़ाता। अब यदि भेद-विज्ञान द्वारा शरीर से व्यामोह छोड़ो तो संसार का अन्त आ सकता है।

१०३. हे आत्मन्। सोचो कहाँ तो तुम्हारा अनाकुल सुख और कहाँ यह पर्यायाश्रित विकल्पों का भार ?

१०४. हे आत्मन् ! सोचो। कहाँ तो तुम्हारा इस मानव जन्म का अमूल्य क्षण और कहाँ यह रातदिन परिग्रह संचय में हाय ! हाय ! समझदारी तो तब है जब तुम इन दोनों को ज्ञानरूपी तराजू पर तोलकर महत्त्व को समझ सको।

१०५. हे आत्मन्। तुझ में तो अचिन्त्य शक्ति है परन्तु वह कर्मो से आवृत है। यदि भेद ज्ञान से अवलोकन करो तो शक्ति ही शक्ति नजर आयेगी।

१०६. हे भगवन् ! जो प्राणी आपके गुणों में अनुरागी हैं उनमें स्वयमेव शुभ परिणामों का संचार हो जाता है और वे शुभ परिणाम ही पुण्यबंध में कारण बनते हैं ।

१०७. हे भगवन् ! जो आपके गुणों का स्मरण करते हैं उनके मंदकषाय होने से शुभोपयोग हो जाता है और उसके प्रभाव से उनके विचारों में समीचीनता आ जाती है। ऐसा स्वतः ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बना हुआ है ।

१०८. हे भगवन् ! धन्य है तेरी महिमा ! जब प्राणियों को आपकी भक्ति संसार बंधन से मुक्त कर देती है, फिर यदि क्षुद्र बाधायें स्वतः मिट जायें तो इसमें क्या आश्चर्य है ? परन्तु भगवन् ! हम अज्ञानी प्राणी संसार की छोटी छोटी बाधायें भी सहने में असमर्थ हैं और छोटे छोटे कार्यों की पूर्ति में ही अचिन्त्य भक्ति के प्रभाव को खो देते हैं ।

१०९. हे आत्मन् ! चिन्ता किस की करते हो ? जब पर वस्तु अपनी है ही नहीं । फिर उसकी चिन्ता से क्या लाभ ? यदि चिन्ता ही करनी है तो स्व की चिन्ता करो ।

११०. हे आत्मन् ! सर्व विकल्पों को छोड़कर अपने आत्मबोधार्थ प्रयत्न क्यों नहीं करते ? विकल्पों को छोड़कर अपने को कल्याण मार्ग पर लगाना तुम्हारे ही अधीन है ।

१११. हे आत्मन् ! इस संसार में सुख और शान्ति नहीं । अतः सांसारिक सुख की आशा निरर्थक है । वास्तव में केले के स्तम्भ में सार की आशा तुल्य ही संसार में सुख की आशा है ।

११२. हे आत्मन् ! तू अनादिकाल से निगोद में रहा जहाँ पर एक श्वास में १८ बार जन्म मरण करता रहा। क्या तू अब उन दु:खों को भूल गया ? आज इस सुन्दर मानव पर्याय को पाकर भी आत्महित की ओर लक्ष्य नहीं बनाता है।

११३. हे आत्मन् ! क्या तुझे वे दिन याद नहीं आते जब तुम्हें नरक में असह्य वेदना होती थी। भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, ताड़न, मारण आदि अनेक वेदनाओं को सहन करते-करते तू ने उन नरक पर्यायों को सहन किया था।

११४. हे आत्मन् ! समस्त इन्द्रियों के विषयों का बीज, सब पापों का मूल तथा अनर्थों की जड़, ऐसे परिग्रह रूपी पिशाच का त्याग करके तुझे संतोष को अंगीकार करना चाहिये।

११५. हे आत्मन् ! तुम्हें तो प्रत्येक पदार्थ के गुण ग्रहण करना चाहिये, अवगुण से तो बरबादी ही होगी।

११६. हे आत्मन् ! सर्व विकल्पों को छोड़कर अपने आत्म-स्वरूप में क्यों नहीं प्रयत्न करते हो। जबकि विकल्पों को छोड़ना और कल्याण मार्ग पर लगना तुम्हारे ही आधीन है।

११७. हे आत्मन् ! क्या तुझे वे दिन याद नहीं आते जब तुमने नरक में असह्य वेदना सहन करी थी; भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी और ताड़न-मारण आदि अनेक दु:ख सहन किये थे।

॥ ॐ वीतरागाय नमः ॥

नैतिक जीवन

१. करनी के बिना केवल निरर्थक वागाडम्बर से कोई फायदा नहीं है। दूसरों को उपदेश देने से पूर्व मनुष्य को वैसा अपने को बनाने की चेष्टा करनी चाहिये। अन्यथा प्राणियों पर असर पड़ने वाला नहीं, उल्टा हंसी का पात्र ही होगा।

२. कषाय और विषय-वासना प्राणियों के हृदय सरोवर को व्यथित कर आकुल-व्याकुल कर देती है। अतः सब प्रकार के वैर-भावों का परित्याग करके चित्त को स्वच्छ रखो। इस समय आत्म चिन्तवन और आत्मालोचन द्वारा आत्म शुद्धि करके आत्मानुभव करने का प्रयत्न करते रहो।

३. प्राणियों के मन में जब लोभ की मात्रा बढ़ती है तब अज्ञानवश धन को ही जीवन का आधार मान बैठते हैं और उसकी संग्रह-वृत्ति में अपने जीवन का बहुत सा भाग व्यतीत कर देते हैं।

४. संसार में ज्ञानी पुरुष सदाचार को ही जीवन का सार मानता है और अपनी गलतियों को मंजूर कर लेता है। इतना ही नहीं उन गलतियों को दूर करने की कोशिश भी करता है।

५. प्राणियों के गुप्तरूप से किये गये अयोग्य कार्य ही मरण पर्यन्त हृदय में कील के समान चुभने वाली शल्य है, जो मानव को पाप से निवारण करता है और सन्मार्ग में लगाता है, वही सच्चा मित्र है।

६. एक अन्तमुहूर्त में तीन लोक को भस्म करने में समर्थ क्रोध कषाय रूपी अग्नि को नष्ट करने में समर्थ वे ही महापुरुष हैं, जो अपने अगाध क्षमा रूपी समुद्र में गोता लगाते हैं।

७. संसार में आदर्श गृहस्थ वही है, जो न्यायपूर्वक धनोपार्जन करता हो, साधु पुरुषों का सम्मान करता हो, प्रशस्त और सत्यवाणी बोलने वाला हो, धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थों को परस्पर निर्विरोध सेवन करने वाला हो, लज्जाशील हो, भक्ष्य अभक्ष्य का विचार कर भोजन करने वाला हो, पापकर्मों से भीरु हो तथा सदाचार की निधि को जीवन का सार समझने वाला हो और दया से द्रवित अन्तःकरण वाला हो, वही गृहस्थी आगे चलकर आत्महित कर सकता है।

८. जो आशारूपी राक्षसी को नष्ट करने में समर्थ हैं वे धीर वीर हैं। वास्तव में वचनरूपी वाण शस्त्र बाण से अधिक तीक्ष्णतर-धार वाला होता है।

९. संसार में जो व्यक्ति धन-सम्पदा होते हुए भी दान नहीं देते हैं, अर्थात् कृपण होते हैं, वे वास्तव में निर्धनी हैं। ऐसे पुरुष धन की रखवाली करने के लिए चौकीदारी करते हैं तथा अन्त में उस धन में ममत्व करते-करते मरकर दुर्गति चले जाते हैं।

१०. जब तक प्राणी अभक्ष्य भक्षण का त्याग नहीं करता है, तब तक अहिंसात्मक जीवन विकसित नहीं हो सकता है तथा अहिंसा के प्रभाव से ही आत्मशक्तियों की जागृति होती है।

११. वास्तव में अहिंसा ही समस्त सुखों की आधार भूमि है तथा अहिंसा ही साम्यभावरूपी सूर्य को जगाती है। जबकि हिंसा विषमता की गहरी अंधियारी को उत्पन्न करती है। सच तो यह है कि राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादि विकारों को त्याग करना ही परम अहिंसा है।

१२. अपराधी प्राणियों के प्रति शांत व्यवहार करना महान् पुरुषों का काम है। जबकि दुर्जन सज्जनों से द्वेष करते हैं। संसार में वे प्राणी अधम हैं जिनके हृदय में दुराचार की दुर्गन्ध रहती है। वास्तव में दुराचार से ही मानव दानव बन जाता है तथा दुराचार से आत्मा का पतन होता है अर्थात् दुराचार ही नरक के द्वार खोलने की कुञ्जी है।

१३. सदाचार से आत्मा और समाज का विकास होता है और सदाचार से ही धर्म की प्रभावना होती है। इसी सदाचार से मानव देवताओं से अधिक पूजनीय हो जाता है। जबकि दुराचार आत्मा की, समाज की उन्नति का विघातक है।

१४. संसार में वही मानव सर्वोत्कृष्ट है जिसका हृदय सदाचार की सुगन्धि से सुवासित है। गुणीजनों का आदर करना ही अपनी उन्नति का कारण है। जिसके हृदय में गुणीजनों का सत्कार है उसके हृदय में देवताओं का वास रहता है।

१५. संसार में शिक्षा प्राप्त करने का मुख्य उद्देश्य सुदृढ़ एवं सुन्दर चारित्र का गठन और नैतिक गुणों का विकास है। शिक्षा केवल भौतिक विकास के लिए ही नहीं है।

१६. देखो! जगत् के प्राणी मधु-विन्दु समान अत्यन्त अल्प सुखाभास से अपनी इच्छाओं की अनन्त लालसाओं को परितृप्त करना चाहते हैं। परन्तु आशा की तृप्ति होने के पूर्व ही उनकी जीवन लीला समाप्त हो जाती है।

१७. अहिंसा और अपरिग्रह के आचरण में विश्व-बन्धुत्व और आत्म-कल्याण की कामना उत्पन्न होती है। जबकि तमोगुणी मानव की विद्या, दृष्टि विष सर्पराज के समान अच्छे कामों का विनाश करती है।

१८. पर पदार्थों में अपने मन को आकर्षित न होने देने वाला व्यक्ति ही आत्म रस का पान कर सकता है; जबकि राग-द्वेष से व्याप्त हृदय में समतारूपी लक्ष्मी प्रवेश ही नहीं कर सकती है। वास्तव में विषयान्ध प्राणी अपने हिताहित को देख नहीं पाता है।

१९. संसार में वही बहिरा है जो अपने हित की बात नहीं सुनता तथा वही अन्धा है जो विषय भोगों में मग्न रहता और हिता-हित को नहीं देखता।

२०. संसार में मैत्री भाव सरस, शीतल, अमृत की धार है जिससे मानव का अन्तरङ्ग, कालुष्य दूर हो जाता है तथा जिससे परम मित्रता जीवित रहती है और प्राणियों के प्रति प्रेम उत्पन्न

होता है।

२१. संसार में प्राणियों का धन, यौवन और आयु कमल-पत्र पर पड़ी हुई बूंद के समान है। अतः हे भाई ! कंठगत प्राण होने पर भी व्यसनों का सेवन मत कर।

२२. जीवन संशोधन का मूल आधार स्वावलम्बन है। परावलम्बी जीवन त्रिकाल में भी निर्मलता की ओर अग्रसर नहीं हो सकता है।

२३. मानव का मन यदि काम, क्रोध, मद, लोभ, मोहादि से मुक्त नहीं है तो उसका अन्तरङ्ग भी सुखी नहीं हो सकता है। जिनका मन ऊँचा है, उनका भाव ऊँचा है। अतः वास्तव में प्राणी अपने गलत विचारों से अधोगति को जाता है और समीचीन विचारों से मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है।

२४ भले ही कार्यरूप से मनुष्य पाप न करे। किन्तु मानसिक पाप बुरा है। संसार में वचन और काय से इतने पाप नहीं होते जितने मन से होते हैं।

२५. जिन्हें कार्य करने की धुन होती है, वे अपना मार्ग बना लेते हैं। कार्यसिद्धि के लिए उद्यमी मानव सुख दुःख की गणना नहीं करता। अपने सतत प्रयत्न से मनुष्य मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है।

२६. वास्तविक परम्परा में रहने से धर्म, संस्कार, मर्यादा आदि सुरक्षित रहती है। जैसा कि आचार्यों ने बताया है, उनका उल्लंघन नहीं करना चाहिये। जो समय धर्मार्जन के लिए

सुरक्षित है उस समय में धर्मार्जन ही करना चाहिये।

२७. दृढ विश्वास के आधार पर जब जीव आत्मश्रद्धा करता है, तथा सप्त-भयों से अपने को मुक्त करता है तब सम्यग्दृष्टि होता है। ऐसा जीव अपनी अन्तरंग अनन्त शक्तियों को प्रकट करके आत्मा से परमात्मा बन जाता है।

२८. अज्ञानी पुरुष अपनी ख्याति, प्रतिष्ठा के लिए रात दिन प्रयत्न करता है। परन्तु पुण्योदय के बिना कुछ प्राप्त नहीं हो सकता। यदि मनुष्य अपनी आत्म ख्याति के लिए निष्ठापूर्वक थोड़ा भी प्रयत्न करे तो अपनी अनन्त वैभवशाली आत्मा को प्राप्त कर सकता है।

२९. मद्य, मांस और मधु आदि अभक्ष्य पदार्थों के सेवन से शरीर के स्वास्थ्य और मन की पवित्रता पर प्रभाव पड़ता है। अतः जब तक मानव अपने खान पान को मर्यादित नहीं करते हैं तब तक आत्मदर्शन का स्वप्न देखना निरर्थक है।

३०. पूजा और दान बिना गृहस्थ का जीवन निरर्थक है। जिन गृहस्थियों के ये दोनों कार्य प्रतिदिन होते है उनका ही मानव जीवन सफल है।

३१. संसार में जो चतुर व्यक्ति होते हैं वे अच्छी बातों को तुरन्त ग्रहण कर लेते हैं और बुरी बातों को छोड़ देते हैं। साधारणतया यह देखा जाता है कि बुराई बिना प्रयत्न के आ जाती है। परन्तु भलाई परिश्रम करने पर भी बड़ी कठिनता से प्राप्त होती है।

३२. आत्महित के लिए स्वाध्याय परमावश्यक है। जैसे शस्त्र सीमा की रक्षा करता है उसी तरह शास्त्र हमारी आत्मा की रक्षा करता है।

३३. पवित्र धर्म को नीचा दिखाने के लिए थोड़े नास्तिक ही बहुत हैं, जैसे तालाब के सारे पानी को गन्दा करने के लिए थोड़ी भैंसे ही प्रर्याप्त हैं।

३४. लौकिक और लोकोत्तर दोनों जीवन की सफलता के लिए विनय गुण को जीवन में धारण करना श्रेयस्कर है।

३५. प्राणी मात्र के लिए मार्दव धर्म उत्तम है। जिसके हृदय में मृदुता है वही संसार में उत्तम है। यह उत्तम मार्दव धर्म जन्म-मरण से छुटकारा दिलाने में सहायक है।

३६. हम रात दिन इस बात का अनुभव करते हैं कि छल, कपट आदि करने वालों का आखिर पतन ही होता है। तथा दुनिया भी उन्हें ठुकरा देती है। फलतः सरलता ही इस लोक तथा परलोक में सुख-शांति प्राप्त कराने में सहायक होती है।

३७. केवल चर्म धोने से कर्म नहीं धुलते हैं। वास्तव में अपने अन्दर बैठे हुए काम, क्रोध, लोभ आदि को धोकर जब तक साफ न किया जावे तब तक कर्मरूपी मल धुलने वाले नहीं।

३८. संसार में "शील" ही जीवन का सौन्दर्य है। देखो महासती सीता ने कितनी भयंकर प्रतिकूलताओं में अपने शील की रक्षा करके संसार के सामने अद्वितीय आदर्श प्रस्तुत किया।

३९. संसार में देखो ! पुरुषों ने हमेशा स्त्रियों को बुरा बताया है और अपने को ऊँचा बताया। परन्तु गुण तो दोनों में हैं और दोष भी दोनों में हैं। वास्तव में सर्वथा एक को ही बुरा कहना अच्छा नहीं। क्योंकि दोष के होने से दोनों ही बुरे हैं और गुणों के होने से दोनों ही अच्छे हैं।

४०. हमारे राष्ट्र के सामने वर्तमान में तीन समस्यायें हैं। (१) अन्याय (२) अभाव (३) अज्ञान। हमारा देश जिस हद तक इन्हें दूर करने में समर्थ होगा, उस हद तक विश्वमैत्री स्थापित होगी। अर्थात् गृह-युद्ध से बचाव होगा।

४१. अगर हमें विश्वमैत्री की ओर कदम बढ़ाना है तो कमखाना, गमखाना और नमजाना जैसे आदर्शों को अपनाना होगा।

४२. मनुष्यों को कृतघ्नी, अभिमानी और मायावी कभी नहीं बनना चाहिये। अगर बनना चाहते हो तो विनयी, सुशील, सरल अवश्य बनो।

४३. वास्तव में सम्यग्ज्ञान के सद्भाव में मानव निर्भय हो जाता है तथा संशय रहित हो जाता है। जहाँ भय और शंका है वहाँ मिथ्याज्ञान है।

४४. आचार और विचार के बिना ज्ञान का कोई मूल्य नहीं। जहाँ कथनी और करनी में अन्तर है वहाँ ज्ञान नहीं ज्ञानाभास है।

४५. मानव के जीवन का विकास ज्ञान और चरित्र पर निर्भर करता है। आध्यात्मिकता भी नैतिकता पर आधारित है।

४६. धर्म की रक्षा सदाचार और नैतिकता पर निर्भर है। जहाँ नैतिकता नहीं वहाँ धर्म भी नहीं। धर्म कर्त्तव्य पालन में है।

४७. आचार और नैतिकता की शुद्धि के लिए खान-पान और रहन-सहन की शुद्धता विचारणीय है।

४८. प्रायः माता अपने बच्चे के विकास के लिए खान-पान रहन-सहन तथा वैचारिक शुद्धता के प्रति जागरूक रहती है और कुसंगति तथा चारित्र हनन करने वाली क्रियाओं का निषेध करके सुसंस्कार डालने की चेष्टा करतो है। वास्तव में बचपन के संस्कार ही आने वाले जीवन को ऊँचा उठाने में सहायक होते हैं।

४९. आज इस बात की आवश्यकता है कि मानव सुशिक्षित बने और शील संयम पूर्वक अपने मानव जोवन को सफल बनावें।

५०. हमारे देश में सीता, अञ्जना, मनोरमा आदि अनेक नारी रत्न पैदा हुए हैं। जिन्होंने भारतोय संस्कृति के गौरव को बढाया है। इन महान् सतियों के आदर्श बालिकाओं तथा माताओं के सामने रखे जाने चाहियें। जिससे वे भी अपने जन्म को उत्थान की ओर ले जावें।

५१. देव दर्शन पूजा, स्वाध्याय, संयम व्रतादि को आराधना से ही भव्य-जोव अपने आत्म दर्शन द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

५२. मानव को अपराधियों पर भी द्वेषभाव नहीं रखना चाहिये, तथा उन्हें भी विचार परिवर्तन का पूर्ण अवसर देकर सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये।

५३. साधु समागम एवं सत्संग से मानव-जीवन में महान् परिवर्तन हो सकता है। जो लोग भौतिक सुख सुविधाओं में रहते थे उनके जीवन में भी पूर्ण रूप से परिवर्तन आ गया था। जैसे सुकुमार मुनि आदि।

५४. अगर हम नर-भव की सार्थकता सिद्ध करना चाहते हैं तो हमें अन्तर में ज्ञान-ज्योति का दीपक जलाकर बाहर के प्राणी मात्र से वात्सल्य भाव करना होगा।

५५. भगवान् महावीर ने प्राणी मात्र के लिए, महलों से लगाकर झोपड़ियों तक पैदल घूमकर अहिंसा धर्म का प्रचार किया था। वास्तव में भगवान् महावीर की सभा में सभी दीन-दुःखी दरिद्र, अनपढ़ आदि सभी जाते थे और भगवान् की वाणी को सुनकर अपने को धन्य समझते थे।

५६. लोभादि आन्तरिक कषायों के त्याग सहित बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह के प्रति ममत्व भाव का त्याग ही आत्मा को परमात्मा बना सकता है।

५७. मद्य, मांस, मधु के सेवन में तीव्र हिंसा छिपी हुई है। कई व्यक्तियों ने इन अभक्ष्य भक्षण को अपनाकर अपने पेट को कब्रिस्तान बना डाला है। अगर मानव होकर भी विवेक पूर्वक कार्य न करे और जीवन को पवित्र न करे तो मानलो जीवन पशुवत् है तथा इसको व्यर्थ खोना है।

५८. मानव अपने बाहर से शरीर को संस्कारित करने के लिए पूरा जीवन खपा देते हैं। पर आत्मा को सुसंस्कारित करने की

ओर कभी ध्यान नहीं देते ।

५६. आचार्यों ने बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकार से जीवन को सुसंस्कृत करने की सिफारिश की है। मानव इस शरीर को संस्कारित करने के लिए अनेक प्रकार के वस्त्र, आभूषण आदि तथा नाना प्रकार के प्रसाधन आदि को काम में लेता है। इसी तरह अगर आत्मा को सुसंस्कारित करने के लिए कषायों को मन्द करने तथा सात्विक वृत्तियों को अपनाने का अभ्यास करें तो बेड़ा पार हो जावे ।

६०. वास्तव में विज्ञान की उत्तरोत्तर प्रगति के साथ २ वर्तमान युग के मनुष्य आलसी होते जा रहे हैं।

६१. आचार्यों ने सात व्यसन बतलाये है । परन्तु यह आलस्य (प्रमाद) भी आठवां व्यसन है ।

६२. प्राय: संसार में देखा जाता है कि मनुष्यों में अनेक गुणों के होते हुए भी विषयासक्त चित्त वाला व्यक्ति दु:खी ही रहता है। अर्थात् उसका विवेक भी नष्ट हो जाता है, तथा उसके गुण भी अवगुणों में बदल जाते हैं।

६३. पुरुषार्थ और परिश्रम से समृद्धि प्राप्त होती है जबकि आलस्य और प्रमाद से दैनिक क्रियाओं में हानि होकर पतन होता है।

६४. वास्तव में सामाजिक आविष्कार और धर्म में बड़ा अन्तर है। धर्म शाश्वत है और सामाजिक नियम सामाजिक अड़चनों को दूर करने के लिए होते हैं तथा छोड़े जाते हैं। अर्थात् सामाजिक नियमों में परिवर्तन होना कोई बुरी बात नही है।

यदि उनसे धर्म स्थिरता को आंचना आवे।

६५. आज का मानव जितना धन, फैशन आदि कार्यों में गंवाता है उतना धन आदि असहायों की सहायता तथा सुशिक्षा आदि में लगावे तो उपयोगी होकर कई गुणा फल दे सकता है।

६६. धर्म ही मानव को मानवता सिखलाने की पाठशाला है। जिसमें आत्मा को स्वच्छ, निर्मल और पवित्र संस्कारों से सुसंस्कृत बनाकर परमात्मा बनाया जाता है।

६७. धर्म आत्मा का स्वभाव है और वह स्वविवेक से प्रकट होता है।

६८. सभी साधुओं और विद्वानों का कर्त्तव्य है कि भगवान् महावीर की अहिंसामयी अमृतवाणी को प्रत्येक नगर, गांव तथा झोपड़ी तक पहुंचावे। और अधर्म को हटाकर धर्मरूपी सूर्य का प्रकाश करें।

६९. धर्म का परिज्ञान अन्तरंग ज्ञान नेत्र खोलने से होता है। परन्तु अन्तरंग आंखे खोलने के लिए अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की आवश्यकता है। शास्त्रों का बार बार मनन चिन्तवन अभ्यास करने से अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग प्राप्त होता है।

७०. जब जीव को सहानुभूति की प्राप्ति होती है तब उसे धर्म का रहस्य मिलता है। धर्म रहस्य ज्ञान के लिए तत्व चिन्तवन परमावश्यक है।

७१. प्राणियों का धर्म ही सच्चा बन्धु, मित्र और सहायक है। अतः प्रत्येक प्राणी को स्वर्ग और मोक्ष देने वाले धार्मिक

सत्कर्मों में, अनुष्ठानों में बुद्धि को प्रेरित करनी चाहिये।

७२. जीव दया, सत्य, क्षमा, शौच, सन्तोष, वैराग्य आदि धर्म हैं और इनके विपरीत हिंसा, झूठ, क्रोध, लोभ, मूर्च्छा आदि अधर्म हैं।

७३. जीवों को पापों से पराङ्मुख होकर अपने सत् पुरुषार्थ से सब सुखदायी धर्म में प्रवृत्ति लगानी चाहिये।

७४. अपने समान अन्य प्राणियों को समझना, शक्ति अनुसार दान देना और शक्ति पूर्वक तपश्चर्या करना धर्म प्राप्ति के उपाय हैं।

७५. जो व्यक्ति साधन होते हुए भी धर्म सेवन नहीं करते हैं उनका मानव-जन्म किस काम का ? वे तो अपनी आत्मा को ही ठगते हैं।

७६. आचार्यों ने कहा है कि जिस तरह निर्गन्ध पुष्प, दांतों से रहित मुख और सत्य रहित वचन शोभायमान नहीं होते हैं, उसी प्रकार धर्म विहीन व्यक्ति भी शोभा को प्राप्त नहीं होता।

७७. वास्तव में पुरुषार्थ से ही कार्य की सिद्धि होती है। केवल बातों से या मन में चाहने मात्र से नहीं। जैसे शेर के मुख में हिरण स्वयं प्रवेश नहीं करते।

७८. उद्योगशून्य मानव के मनोरथ स्वप्न में राज्य मिलने के समान व्यर्थ होते हैं। जैसे स्वप्न में राज्य की प्राप्ति निरर्थक है, उसी प्रकार उद्योगशून्य आलसी मानव की सुख प्राप्ति की कामनाएँ व्यर्थ हैं।

७९. जिस प्रकार कोमल जल प्रवाह विशाल वृक्षों एवं पर्वतों को उखाड़ देता है, उसी प्रकार कोमल हृदय वाला व्यक्ति भी अंहकारी शत्रुओं का नाश कर सकता है।

८०. विद्वानों ने कहा है कि मानव अपने मृदुता, (नम्रता) गुण से महान् कार्य को भी आसान कर लेता है। अतः सज्जन पुरुषों के वचनों से ही शान्ति होती है।

८१. संसार में सुवर्णादि धनों में विद्या-धन प्रधान है। क्योंकि वह चोरी द्वारा चुराई नही जा सकती एवं जन्म-जन्मान्तर तक साथ जाती है।

८२. जो व्यक्ति लोक-व्यवहार जानने में चतुर होता है उसकी संसार में ख्याति होती है। जो विद्वान् होकर लोक-व्यवहार शून्य हैं, उनकी लोग निंदा करते हैं या हंसी उड़ाते हैं।

८३. जिनका हृदय पवित्र होता है। उनके मन में ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ और पक्षपात के लिए कोई स्थान नहीं होता है। वह तो दया और प्रेम से परिपूर्ण होता है। ज्यों ज्यों मानव दूसरे के दोषों को देखना छोड़ता है त्यों त्यों वह पाप, शोक और सन्ताप से छूटता जाता है।

८४. स्वास्थ्य अच्छा रहने में मूल कारण मन की विशुद्धता है। जिनके मन में गलत बातों ने स्थान बना लिया है, उन्हीं का स्वास्थ्य नियम से बिगड़ता है। स्वास्थ्य लाभ के लिए दृढ विश्वास, सम्यग् श्रद्धा, सदाचार, वस्तु स्वरूप का ज्ञान आदि का होना आवश्यक है। साथ में बुरी वासनाओं, ज्यादा

संग्रह बुद्धि तथा अधर्म का भी मुँह काला करदो।

८५. स्वास्थ्य लाभ का अनुभव वही व्यक्ति कर सकता है जो सदाचार, प्रेम, उदारता तथा शांतचित्त से रहता हो। जिनका हृदय इनसे शून्य है, वह हमेशा डाक्टरों के चक्कर में फिरता रहता है।

८६. लोभी प्राणी के पास चाहे जितना धन क्यों न हो जावे परन्तु वह तो बिचारा तृष्णारूपी घट्टी (चक्की) में रात-दिन पिसता ही रहता है। परन्तु इसके विपरीत जो प्राणी सन्तोषी है उनके पास चाहे धनादि का विपुल भण्डार न भी है तो भी वे सुख से परिपूर्ण रहते है।

८७ यदि आप इस असार संसार से मुक्त होना चाहते हैं तो आपका परम कर्त्तव्य है कि इस मानव-भव को दुर्लभ समझकर शीघ्रातिशीघ्र आत्महित में प्रवेश कर जाओ।

८८. प्रत्येक प्राणी अगर चाहे तो अपनी इन्द्रियों तथा मन को अभ्यास के द्वारा वश में कर सकता है। निर्धन, निस्सहाय व्यक्ति भी इसमें सफलता प्राप्त कर सकता है।

८९. मोक्ष मार्ग एवं धार्मिक जीवन के लिए इन्द्रिय-निग्रह सर्व प्रथम और सर्वाधिक आवश्यक है। जो प्राणी इन्द्रिय-निग्रह कर लेता है अर्थात् जो मन तथा इन्द्रियों को वश में रखता है वह सुख और आनन्द का अनुभव करता है।

९०. देखो! मानव कितना अन्याय, अत्याचार करके इस धन को एकत्रित करता है वह उस लक्ष्मी को भोग तो सकता नहीं;

परन्तु उपार्जन समय पाप-पोटली बांधता है उसको अपने साथ जन्म जन्मान्तर में ले जाता है। और जब किए हुए पापों का उदय काल आता है तब फूट २ कर रोता है, चिल्लाता है।

६१. प्राणी सोचते हैं कि आदतें या व्यसन छोड़ना कठिन है अर्थात् यथार्थ में इनको छोड़ना बहुत सरल है। अगर उनको बुरा समझने लग जावें तो वे सहज में छोड़ी जा सकती हैं। जब तक मानव इन व्यसनों को छोड़ने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ नहीं होता तब तक ही कठिन है।

६२. मानव अज्ञानवश आप ही अपने को दासत्व (कर्मों) के बन्धन में डालता है और चाहे तो आप ही मुक्त हो सकता है। यथार्थ में प्राणी अपने भीतर अच्छे या बुरे विचारों के अलावा बाह्य में किसी वस्तु से बंधा हुआ नहीं है।

६३. संसार में जो प्राणी अपनी पाशविक इच्छाओं की पूर्ति के लिए भक्ष्य अभक्ष्य का विवेक न रखकर खाते हैं, वे अपना ही अहित करते हैं। मानव को उत्तम जीवन प्राप्त करने के लिए इन हीन कुकृत्यों को छोड़ देना चाहिये तथा शुद्ध और सात्त्विक भोजन समय पर करना चाहिये।

६४. मानव को सब प्रकार के पापाचार, बेईमानी, चालाकी, धोखेबाजी को हमेशा के लिए छोड़ देना चाहिये। वास्तव में इन दुर्गणों को त्यागने से ही हृदय में स्वच्छता, पवित्रता आती है तथा सदाचार दृढ होता है।

६५. मानव चाहे तो अपना उत्थान कर सकता है और अगर चाहे

तो पतन कर सकता है। ये दोनों मानव के सामने हैं जिनसे अपना हित करना है। उन्हें चाहिये कि वे सदाचार को ग्रहण करें और जिन्हें अधोगति ही जाना हैं वे चाहे जितना दुराचार अथवा अधर्म को स्वीकार करें।

९६. जो दूसरों को दोष लगाता रहता है वह स्वयं सत्य मार्ग से भटका हुआ है। उन्हें चाहिये कि अपनी दृष्टि को बदलकर दूसरों के दोष देखने की अपेक्षा उनके गुण देखें और ग्रहण करें।

९७. जो व्यक्ति संसार परिभ्रमण से अपने को बचाना चाहते हैं उन्हें हमेशा स्व-पर दया-दृष्टि रखनी चाहिये यथार्थ में जो स्व दया पालन करते हैं वे ही नियम पूर्वक पर दया पाल सकते हैं। अतः स्व-दया के लिए मानव को क्रोधादि कषायों को तथा राग-द्वेषादि को छोड़ देना चाहिये। और पर दया के लिए प्राणी मात्र को नहीं सताना चाहिये।

९८. वास्तव में भाव ही पुण्य-पाप के कारण हैं। यदि कोई किसी का भला कर रहा हो और कर्म योग से बुरा हो जावे तो भी उसे पुण्य ही होगा। अगर कोई किसी का बुरा कर रहा हो और कर्मयोग से भला हो जावे तो भी उसे पाप ही होगा।

९९. जब तक प्राणी दृढ़ प्रतिज्ञ नहीं होता तब तक बुरी आदतों को छोड़ना मुश्किल है। परिणामों की निर्मलता से प्राणी का चरित्र निर्मल बन जाता है।

१००. इस तृष्णा के वश होकर मानव अनेक संकल्प-विकल्प करता

रहता है। परन्तु कभी विचारने की उसे फुर्सत होती नहीं कि मृत्यु मेरे सिर पर कटार लिए खड़ी है। सच तो यह है कि क्षण भर के सुख के लिए यह आत्मा अपना पतन करता है। रात-दिन विषय-वासनाओं में लिप्त होकर कर्म बन्धन के कारणभूत अनेक विकल्प करता रहता है।

१०१. जिस प्रकार सर्प को दूध पिलाने से उसका विष बढ़ता ही है, घटता नहीं। उसी प्रकार मूर्खों को उपदेश देने से उनका क्रोध बढ़ता ही है घटता नहीं। अतः मूर्खों के साथ कभी सम्भाषण नहीं करना चाहिये।

१०२. इस परिवर्तनशील संसार में सभी जीते और मरते हैं। परन्तु जीना उन्हीं का सार्थक है जो अपनी जाति, कुल और धर्म की उन्नति में सहायक हों।

१०३. "मुख में राम बगल में छुरी" की कहावत को चरितार्थ करने वाले मित्र, भाई बन्धु चाहे कोई भी हो उससे हमेशा बचना चाहिये।

१०४. अपनी इज्जत का ख्याल रखते हुए जो दूसरों की इज्जत पर आक्रमण करता है उससे कभी भी मेल-जोल नहीं बढ़ाना चाहिये।

१०५. कभी बड़ों के दोष नहीं निकालने चाहिये। उनकी तो सारभूत बातों को ग्रहण लेना चाहिये तथा जो नहीं जचे उसका जिक्र नहीं करना चाहिये।

१०६. किसी के साथ कभी भी सम्बन्ध विच्छेद करने का प्रयत्न मत

करो। क्योंकि सम्बन्ध एक बार टूट जाने पर जुड़ भी जाए तो उसमें पहिले जैसी व्यावहारिकता आ हो नहीं सकती। क्योंकि उसमें गांठ पड़ जाती है।

१०७. संसार में जीवों की परिणति दो प्रकार की होती है। एक तो युधिष्ठिर जैसी-जिसे संसार में कोई विरोधी (पापात्मा) नही दिखाई देता है और यदि कोई विरोध करता है भी तो स्वयं अनुकूल बन जाता है। दूसरी दुर्योधन जैसी-जिसे संसार में कोई धर्मात्मा या अनुकूल दिखाई ही नहीं देता। उन्हें कभी भी शांति का दिग्दर्शन नहीं होता।

१०८. वास्तव में सच्ची शिक्षा वही है जिसे पाकर मानव विनयी, परोपकारी, सेवाभावी और चारित्रवान बनें। अन्यथा शिक्षा व्यर्थ है।

१०९ जब तक प्राणी अपराध को अपराध समझकर करता है। तब तक उसके सुधरने की आशा रहती है। पर जब वह अपराध को कर्त्तव्य समझकर करने लग जाता है तो उसका सुधरना कठिन हो जाता है।

११०. जैसे नदी को पार करने के लिए एक घाट आवश्यक है। क्योंकि उबड़-खाबड़ स्थानों से नदी पार नहीं की जा सकती। उसी प्रकार संसार-सागर को पार करने के लिए एक घाट होता है। वह घाट है मानव पर्याय। घाट पर पहुंचकर भी यदि कोई पार न करें तो यह उसका दुर्भाग्य ही समझना चाहिये। यदि मानव पर्याय पाकर भी संसार सागर को पार

करने का प्रयास नहीं किया तो फिर पछताना ही पड़ेगा।

१११. उबलते हुए पानी में जिस प्रकार हम अपना प्रतिबिम्ब नहीं देख सकते हैं उसी प्रकार हम क्रोधी बनकर यह नहीं समझ सकते हैं कि हमारी भलाई किसमें है।

११२. संसार में पाप आत्मा का शत्रु है और सद्गुण मित्र।

११३. भगवान् महावीर ने संसार में अपने आदर्श उपदेशों के द्वारा अनात्मवाद का सबसे अधिक पूर्ण रुपेण खंडन किया।

११४. जो पथिक बिना पाथेय लिए ही लम्बी यात्रा पर चल पड़ता है वह आगे चलकर भूख तथा प्यास से व्याकुल होता है। उसी प्रकार मानव पर्याय पाकर भी जो पुण्य साथ लिए बिना जाता है वह पर लोक में दुःखी होता है।

११५. अल्प झूठ भी मानव का विनाश कर देता है। जैसे दूध को एक बूंद जहर।

११६. कठिनाइयाँ हमें आत्मज्ञान कराती हैं। वे हमें दिखा देती हैं कि हम किस मिट्टी के बने हैं।

११७. गलती करने पर उन्हें छिपाये नहीं अन्यथा वे अपराध बन जायेगी।

११८. धन बुद्धिमान की सेवा और मूर्ख पर शासन करता है।

११९. आश्चर्य है कि लोग जीवन को बढ़ाना चाहते हैं सुधारना नहीं।

१२०. भलाई अमरता की ओर तथा बुराई विनाश की ओर जाती है।

१२१. ठोकरे केवल धूल ही उड़ाती है फसल नहीं।

१२२. दुःख किसी के भेजने से आपके पास नहीं आता उसे तो आप स्वयं बुलाते हैं।

१२३. ग्रालस्य जीवित मानव की कब्र (श्मसान भूमि) है।

१२४. सफलता एक मंजिल है। साहस उसका मार्ग है। धैर्य दोनों ग्रोर के छायादार सघन पेड़।

१२५. लम्बे जीवन में मैं ग्रात्मा के लिए कुछ भी काम नहीं कर पाया। ग्रब तो मौत दरवाजे पर ग्राकर खड़ी है। मेरे किये हुए पापों को साथ लिए जा रहा हूँ। ग्रकेला ग्राया था ग्रौर इस समस्त धन-दौलत, परिवार को छोड़कर ग्रकेला ही जा रहा हूँ। ग्रब मेरे पास पछताने के सिवाय ग्रौर है ही क्या ?

१२६. सदैव परिश्रम करो। संघर्ष के सामने कभी घुटने मत टेको।

१२७- झूठी प्रंशसा करने वाले चाटुकारों से बचो। खुशामद करने वालों को सदैव ग्रपने खतरे की निशानी समझो।

१२८ ईर्ष्या, छल, कपट, ग्रसद्व्यवहार ग्रौर फैशन तथा पर स्त्री में कभी मत फंसो। सादगी से जीवन बिताग्रो।

१२९. ग्रावश्यकता से ग्रधिक संचय मत करो। ग्रधिक संग्रह ही बुद्धि के पतन का कारण है।

१३०. उन ज्ञानियों के ज्ञान की कोई विशेषता नहीं जो जीवन में न उतारे। यह मानकर चलो कि चरित्र विहीन ज्ञान दिमाग की कसरत करा सकता है कल्याण नहीं।

१३१. स्वाध्याय व चर्चा साध्य की सिद्धि के लिए है। विवाद के लिए नहीं।

१३२. यदि हमें आत्मा के परम पुरुषार्थ को जाग्रत करना है तो कदाग्रह छोड़कर आचार्यों के वचनों के अनुकूल अपनी श्रद्धा व आचरण बनाना ही पड़ेगा।

१३३. ज्ञान का फल कषायों के आवेशों का दमन करना है समीचीन ज्ञान की परिणति का होना ही संसारातीत अवस्था के प्राप्त होने में सहायक है।

१३४. जो महापुरुषों की निन्दा करते हैं केवल वे ही पापी नहीं बनते अपितु जो सुनते हैं वे भी पापी होते हैं।

१३५. प्राणियों का क्रोध मूर्खता से शुरु होता है और पश्चाताप पर खत्म होता है।

१३६. सदाचार की रक्षा यत्न पूर्वक करनी चाहिये। धन तो आता जाता रहता है। धन हीन व्यक्ति क्षीण नहीं माना जाता पर सदाचारहीन है उसे तो नष्ट या मृतक तुल्य ही समझना चाहिये।

१३७. संताप से क्रांति क्षीण होती है। बल नाश होता है। ज्ञान और बुद्धि तथा विवेक जाता रहता है। व्याधिग्रस्त जीवन बिताना पड़ता है।

१३८. यदि आपके पास दो रुपये हैं तो एक रुपये में अपना पेट भरलो और दूसरा रुपया किसी गरीब को दे दो। इनमें प्रथम रुपया तो आपको जीवन देगा जबकि दूसरा रुपया आपको जीने की कला सिखायेगा।

१३९. आदमी को काम की अधिकता नहीं अनियमितता मार देती

है।

१४०. यह हम कैसे विश्वास करें कि हमारे भेदों को दूसरे गुप्त रखेंगे ? जबकि हम ही उन्हें गुप्त नहीं रख सकें।

१४१. अगर तिरस्कार का सर्वोत्तम उपाय है तो मौन है। अन्याय करने वाले की अपेक्षा उसका समर्थन करने वाला अधिक अपराधी है।

१४२. अंहकार मानव का ऐसा विचित्र शत्रु है जिसको जानता हुआ भी मानव दूर नहीं कर सकता और उससे घोर दुःख का सामना करना पड़ता है।

१४३. भय दुर्बलता का फल है। शरीर में आसक्त मानव कभी भी महान् नहीं बन सकता।

१४४. मौन में शब्दों की अपेक्षा अधिक वाग्शक्ति होती है।

१४५. सुवक्ता बनने के लिए अच्छी सामग्री और अच्छा ढंग इन दो बातों की आवश्यकता है।

१४६. प्रत्येक जीव के साथ उसके कर्मों का तारतम्य होने से उसकी आकुलता के अनुभव में भी तारतम्य है।

१४७. जो वर्तमान की उपेक्षा करता है वह सब कुछ खो देता है, वस्तुतः भविष्य वर्तमान द्वारा खरीदा जा सकता है।

१४८. संसार में सच्चा मित्र वही है जो मुँह पर तो कड़वी बात कहे पर पीठ पीछे से सदा भला चाहे।

१४९. लालची आदमी किसी के लिए भला तो नहीं है परन्तु वह अपने लिए सबसे बुरा है।

१५०. जब तक दुनिया में विवाहित पुरुष हैं तब तक दुनिया से गुलामी प्रथा खत्म नहीं हो सकती।

१५१. संसार में बुरे गाँव का निवास, दुष्ट की सेवा, बुरा भोजन, क्रोधमुखी पत्नी, (कुलटा) मूर्ख पुत्र और विधवा पुत्री ये सब बिना आग के ही शरीर को जला डालते हैं।

१५२. इस संसार में कलह से घर, कुवाणी से मित्रता, कुराजा से देश और कुकर्म से मानव का यश हमेशा के लिए खत्म हो जाते हैं।

१५३. जिनकी आकृति स्वभाव से सुन्दर है उनको कृत्रिम गहनों को आवश्यकता नहीं।

१५४. जितनी बार तुमने अपने आपको धोखा दिया है उतनी बार शायद अन्य किसी ने आपको धोखा नहीं दिया है।

१५५. अगर आप बुद्धिमाम बने रहना चाहते हैं तो इतने बुद्धिमान जरुर बन जावो कि अपनी जुबान पर काबू किये रहो।

१५६. जब आप सार्वजनिक कार्य करने लग जाओ तो व्यक्तिगत विचार सदा के लिए छोड़ दो।

१५७. यदि मानव अपना ज्ञानरूपी धन को मस्तिष्क में भरलें तो उसे कोई नहीं छीन सकता।

१५८. हमारी परिणति दूसरों के दोषों को देखने की बनी रहती है। यदि इसे छोड़कर हम अपने दोषों को देखने लगे तो हमारा हित हो सकता है।

१५९. देखो ! एक चील रोटी का टुकड़ा पंजों में दबाये जा रही है

और अनेकों चीलें उस पर झपट रही हैं इससे रोटी का टुकड़ा नीचे गिर गया तो इनकी लड़ाई बन्द हो गई। इससे शिक्षा मिलती है कि परिग्रह दुःख का मूल कारण है।

१६०. यह परम्परा हमेशा से चली आ रही है कि कविता-पाठ के बाद कवि को, बिदाई के बाद बारात को और वोट डालने के बाद मतदाता को कोई नहीं पूछता।

१६१. यदि सन्त समागम न हो तो एकान्त श्रेष्ठ है। परन्तु दुर्जनों का समागम अच्छा नहीं।

१६२. सत्संगति से पाप बुद्धि नष्ट होकर पुण्य परिणाम में बदल जाती है। जैसे लोहा पारस-पाषाण के संग से सुवर्ण बन जाता है। अतः सत्संग का आदर करो।

१६३. दूसरों को अपने अनुकूल करने में या दूसरों को अपने को अनुकूल बनाने में कोई भलाई नहीं। यदि आप अपने को वश में कर लेते हो तो सर्वसिद्धी है।

१६४. कोई कैसा ही कटु शब्द कहे तुम उसका उत्तर मीठे शब्दों में, हित रूप में दो, सामने वाला स्वयं ही लज्जित हो जायेगा।

१६५. वास्तव में लोभ मनुष्य का महान् शत्रु है। यह मनुष्यों को कुमार्ग की ओर ले जाता है।

१६६. यदि लोभ करना ही है तो आत्मा की पवित्रता के विकास का लोभ करो।

१६७. इस संसार के पथ में विविध प्रलोभन के गर्त हैं। उनसे

बचकर रहो, अन्यथा सांसारिक यातनाओं के सहने में ही समय बिताना पड़ेगा।

१६८. लोभी के नाक नहीं है, अर्थात् लोभी पुरुष के स्वाभिमान या आत्मगौरव नहीं होता है। अन्याय का मूल कारण लोभ है।

१६९. मानी पुरुष सबको छोटा देखता है तथा मानी को भी सभी छोटा देखते हैं। जैसे पहाड़ की चोटी पर चढ़ा हुआ व्यक्ति नीचे वालों को छोटा देखता है उसी प्रकार नीचे वाले भी पहाड़ पर चढ़े हुए को छोटा ही देखते हैं।

१७०. निरभिमानता की परीक्षा अभिमान तथा अपमान का निमित्त मिलने पर होती है। प्रशंसा काल में तो सभी नम्र बन जाते हैं।

१७१. यदि आप अपना कल्याण चाहते हो तो माया की होली कर दो। क्योंकि यह शल्य है। इसके त्याग के बिना व्रती नहीं हो सकता। इस शल्य के छूटने पर क्रोध, लोभ, मान आदि दुर्गुण अनायास ही शिथिल होकर निकल जाते हैं।

१७२. भविष्य में क्या होगा ? ऐसा विकल्प मत करो। जो होगा सो देख लेना। सच्चाई से रहो फिर कुछ शंका ही नहीं। हाँ, यदि जगत् को लूटना हो तो विकल्प करते रहो।

१७३. शीघ्रता में जो कुछ सुना और माना है उसे बको मत। क्योंकि जब तक उस बात की पूरी जानकारी न हो जाये तब तक धैर्य रखो।

१७४. संसार में असंतोष ही दरिद्रता है। दरिद्रता के विनाश के

कारण संतोष भाव ही है। वास्तव में जिसके पास संतोष-रूपी धन है वही सच्चा धनी है।

१७५. जिसके चित्त में धर्म भावना नहीं वह मृतक तुल्य है। क्योंकि न तो उससे स्व को लाभ है और न पर को ही।

१७६. संसार में द्वेष उतना भयंकर नहीं जितना कि राग। द्वेष तो ऊपरी चोट से आघात करता है परन्तु राग भीतरी और मुंही चोट से आघात करता है। यद्यपि द्वेष भी रागवश होता है परन्तु राग मूलतः द्वेष वश नहीं होता।

१७७. हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और तृष्णा ये सब पाप अनर्थ के ही मूल हैं। संसार में जो भी इनसे बचा, वही श्रेष्ठ रहा। अन्याय अत्याचार करके जिस सम्पत्ति को एकत्रित कर रहे हो वही तुम्हारे महान् दुःख का कारण बनेगी।

१७८. जैसे अन्धे के हाथ में दीपक हो तो उससे उसे कोई लाभ नहीं उसी प्रकार विषय-कषायों से लिप्त पुरुष को कोई लाभ नहीं।

१७९. समता ही तात्त्विक सुख है। समताच्युत कितने ही प्राणी संसार-सागर में भटक गये। अतः यदि आप भव-सागर से पार होना चाहते हो तो समता रूपी धन का संग्रह करो।

१८०. विषयों की चाह व कषायों की प्रवृत्ति जितनी कम होगी उतने ही सुखी बनोगे। अन्यथा संसार-सागर में भटकते रहोगे।

१८१. संसार में सबसे दुर्लभ आत्मस्थिरता है। यदि उसको पा गये

तो अन्य कोई स्थिरता पाने की जरूरत नहीं।

१८२. ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए परस्त्रियों को माता के रूप में देखो।

१८३. ब्रह्मचर्य परम तप है। उसके लिए मानसिक शुद्धता परमावश्यक है क्योंकि मानसिक शुद्धता के बिना ब्रह्मचर्य व्रत ठहरता नहीं। जैसे जड़ के बिना वृक्ष नहीं ठहरता।

१८४ काम एक महान् अंधकार है। जिसमें हित मार्ग तो सूझता ही नहीं। काम एक महती धधकती ज्वाला है जिसमें आत्मा रात दिन भुनती रहती है।

१८५. यदि आपके द्वारा कोई अपराध हो गया हो तो तुरन्त उसका शोधन करो। अपराध शोधन का उपाय आलोचना है। फिर गुरु जो कहे उसे पूर्ण कर श्रद्धावान बनो।

१८६. अपराध-शोधन के बाद उस शल्य को निकाल दो, अन्यथा श्रद्धान ने हाथ धो बैठोगे।

१८७. पुण्योदय पर मग्न मत होवो तथा पापोदय में अधीर मत होवो। दोनों के उदय में समता भाव रखो।

१८८. इस असार परिवर्तनशील संसार में प्रतिष्ठा, ख्याति का व्यामोह करना घोर दुःख का कारण है। जबकि कीर्ति अपकीर्ति तो पाप पुण्य के आधीन है।

१८९. सम्पत्ति और प्रशंसा का कारण पुण्योदय है। विपत्ति और निन्दा का कारण पापोदय है। पाप और पुण्य दोनों आकुलता के जनक हैं। एक शुद्धावस्था (ज्ञान मात्र) ही शांति-

मय है।

१६०. कषायों में प्रबल मनुष्यों का मान है। अतः इस झूठे जगत् में बड़प्पन मत चाहो। क्योंकि आज तक किसी का भी बड़प्पन हमेशा के लिए नहीं रहा है।

१६१. संसार क्षणिक है। जो मूढ इसको नित्य मानता है। वास्तव में वही सांसारिक यातनाओं को सहता रहता है। अतः सर्वदा अनित्य भावना का चिन्तवन करो। जिसने जन्म लिया है उसका मरण निश्चित है और जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग भी निश्चित है।

१६२. वास्तव में काम, क्रोध, मान, माया और लोभादि विकारों से रहित आत्मा को सहज स्थिति पाना ही अमूल्य वैभव है। अतः हमेशा इसी का लक्ष्य रखो।

१६३ जैसे तैराक समुद्र में रहता हुआ बाह्य चीजों को नहीं पकड़ता है अपितु अपने भुज बल से तिर जाता है। उसी प्रकार संसार में रहता हुआ प्राणी ज्ञानी आत्मा बाह्य पदार्थों को ग्रहण न करता हुआ निज ज्ञान स्वरूप को दृष्टि से भव-सागर पार हो जाता है।

१६४. निज स्वभाव स्थित को विपदा भी सम्पदा रूप है। जो निज स्वभाव से भ्रष्ट हैं उन्हें सम्पदा भी विपदा रूप है।

१६५. संसार तो दुःखमय है और क्या है? विषयों की अभिलाषा, कीर्ति की चाह, अपमान की शंका, विषय-वियोग में क्लेश, सम्मान और विषयों के बाधकों से द्वेष, धन वैभवादि का

अंहकार, इच्छित वस्तुओं की चाह यह सब संसार है।

१९६. दूसरों के दोषों को देखकर अपने को क्रोधी बनाना धोखे से खाली नहीं। अतः अपने दोषों को देखकर उनको छोड़ना ही समझदारी है।

१९७. यह संसार दुःखमय है। यहाँ किसी का कुछ नहीं? अपने को निर्विकल्प स्थिति में लाने का प्रयत्न करो। अर्थात् समस्त पर वस्तुओं से मोह हटाओ।

१९८. इष्ट वस्तु के वियोग और अनिष्ट वस्तु के संयोग होने से संसारी प्राणी दुःख और सुख की कल्पना करते हैं। परन्तु वस्तुतः कल्पना नाम ही झूठ का है। अतः झूठे विकल्प करके क्यों दुःखी और सुखी होते हो। जबकि स्वभाव जो आपका निजी धन है—न तो उसका वियोग होता है और न संयोग ही।

१९९. सांसारिक वैभव से शान्ति नहीं मिल सकती। उदाहरणार्थ राजा, मंत्री श्रीमन्तों को देखो जो शांति की खोज में स्वयं मर मिटे उसे प्राप्त न कर सके।

२००. जिस बात के कहने में स्व पर की भलाई न होकर अहित हो। उस बात के कहने की अपेक्षा मौन रहना ही आत्म बल का साधन है।

२०१. हितमित प्रिय वचन बोलना स्व-पर जनों को सुखी करने का प्रबल उपाय है। इस प्रकृति से प्राणी इहलोक में सुखी रहता है और परलोक में सुखी रहने के लिए ज्ञान संस्कार

बना लेता है।

२०२. यदि आप स्व कल्याण और उन्नति चाहते हो तो दूसरों के कल्याण और उन्नति में ईर्ष्या मत करो। अपितु उनके सहायक बनो। क्योंकि मात्सर्यभाव अकल्याणकारी है। अतः इस अशुभयोग के रहते उन्नति नहीं हो सकती।

२०३. जब आयु कर्म का अन्त आता है तब चाहे जितनी ही चिन्ता इस शरीर के लिए करो। पर ऐसा सोचो कि यह शरीर तो नाशवान् है अतः स्वकर्त्तव्य पालन में लगे रहो।

२०४. संसार के अज्ञानी प्राणी अनादिकाल से मोह मदिरा का पान करते आ रहे हैं। जिससे इष्ट अनिष्ट की कल्पना करते रहते हैं और जन्म-मरण की चक्की में पिसते रहते हैं।

२०५. मोक्ष मार्ग पुरुषार्थ से सिद्ध होता है। अतः सच्चा पुरुषार्थ करते रहोगे तो सच्चे मार्ग पर चलते चलते अवश्य ही मोक्ष लाभ होगा।

२०६. मानव का मुख्य कर्त्तव्य राग-द्वेष रहित परिणमन का अनुभव करना है। इसमें जब न रह सको तब तत्त्व चिन्तन में लग जाओ तथा स्वाध्याय में लग जाओ। जब इसमें न रह सको तो सत्समागम में चर्चा करो। परन्तु बेकार मत बैठो।

२०७. वास्तव में आत्महित परिणमन सच्चा पुरुषार्थ है; और सच्चे पुरुषार्थ से ही आत्मा का हित हो सकता है। हम

अनादिकाल से कुपुरुषार्थ करते रहें इससे ही संसार-सागर में भटकते रहे हैं।

२०८. संसार के सभी प्राणी पुरुषार्थ करते हैं। चाहे सीधा या उलटा पुरुषार्थ करें। जब तक उलटा पुरुषार्थ चलता रहेगा तब तक संसार में भटकना है। और जब सीधा पुरुषार्थ होगा तो समझलो मोक्ष दूर नहीं है।

२०९. जो पुरुषार्थ का महत्त्व स्वीकार नहीं करते हैं वे मानो अपनी छाती पर पत्थर बांधकर समुद्र पार होना चाहते हैं।

२१०. विरुद्ध कारण मिलने पर भी जो चरित्र एवं समता से च्युत नहीं होते हैं वे ही दृढ़ प्रतिज्ञ और धर्मवीर कहलाते हैं।

२११. संसार में जो विपदा में साथ देवें वे ही सच्चे मित्र हैं। सम्पदा में तो सभी मित्र होते हैं। वास्तव में तो सच्चा मित्र वही है जो पाप प्रवृत्ति से हटाकर धर्म-मार्ग में जगा देवें।

२१२. संसार शुभाशुभभावों का फल है। चाहे आप कितनी ही चतुराई करो, परन्तु इसमे कुछ भी सिद्धि नहीं है। यहाँ तो पुण्य और पाप के उदयकाल में जो साता या असाता होगी वह आपको ही भोगनी पड़ेगी। अतः शुद्ध भाव पैदा करने की कोशिश करते रहो।

२१३. किसी भी विकार के पैदा होने पर फौरन अपना उपयोग

उस ओर से हटा लो और आत्मतत्त्व में लगाओ। फिर शांति पैदा होने में बिल्कुल भी देर नहीं लगती।

२१४. जगत् में मोह का महात्म्य तो देखो कि अनन्त ज्ञान का स्वामी चैतन्य आत्मा अपना ध्यान भूलकर जड़ पदार्थों में अपनापन मानता है और मार खाता है।

२१५. इस संसार में मानव-जन्म पाने का फल तो अनादिकाल से बंधे हुए पापों का नाश कर लेना है। इस सुन्दर पर्याय में यदि प्रमादवश आत्म हित न किया तो सिवाय पछताने के और रहेगा ही क्या ?

२१६. अधीरता आत्मा का शत्रु है। इसका जन्म ममत्व भाव से होता है और यह ममत्व ही संसार को नचा रहा है। न करने योग्य कार्य करवाता है। अतः इस ममत्व को छोड़कर अपने स्वरूप में आओ और सुखी बनो।

२१७. जहाँ पर झूठा अपवाद होता है वहाँ घबराना मूर्खता है। क्योंकि वह वातावरण तो तुम्हारा उपकारक है। अगर आप सच्चे मार्ग पर हो तो डरने की क्या जरूरत है ?

२१८. किसी भी कार्य के करने में संकल्प की दृढ़ता होनी चाहिये। पहिले अपने हिताहित की सोचो। जो हित रूप हो उसे करो।

२१९. वास्तव में आत्मा का हित इसी में है कि अपने परिणामों में कुभाव पैदा ही न होने दें और स्वभाव में गति करें।

२२०. चाहे अपनी प्रशंसा करो या दूसरों की निन्दा। इन दोनों

में कोई फर्क नहीं पड़ता। चाहे नागनाथ कहो चाहे सांपनाथ कहो। विष तो दोनों में बराबर है।

२२१. किसी का बुरा सोचना ही समुद्र में चलती हुई अपनी नाव को मानो अपने ही हाथों से डुबोना है।

२२२. यश और अपयश से आत्मा की भलाई या बुराई नहीं। अपनी निर्मलता और मलीनता से ही हिताहित होता है।

२२३. इस मानव जन्म को प्राप्त करके आत्मकल्याण करना सर्वोपरि है। यदि आत्म हित में प्रमाद कर भोगों में जन्म बिताया तो समझलो चिन्तामणिरत्न प्राप्त करके खो दिया।

२२४. "भ्रम की औषधि लुकमान हकीम के पास में भी नहीं" भ्रम की औषधि है तो मात्र उस भ्रमित वस्तु की उपेक्षा करना।

२२५. यहाँ पर लोगों की वाह २ आगे क्या काम आयेगी ? यदि नहीं तो क्यों झूठी वाह २ के पीछे पड़े हो। अपने आपको भूल रहे हो।

२२६. जो धार्मिक कामों में भी कीर्ति, यश, आदर, धन और सांसारिक सुखों की वान्छा करता है वह मानो आग में बैठकर शीतल होना चाहता है।

२२७. मृत्यु अचानक आ सकती है। उसका कोई समय निश्चित नहीं है। अतः मानकर चलो कि मृत्यु सिर पर ही बैठी है।

२२८. प्राणियों को प्रतिक्षण अपने परिणामों को संभाल के रखने की आवश्यकता है। न जाने किस समय आगामी गति का बन्ध हो जावे।

२२९. संसार में जिसका उपयोग आत्महित में लग गया। उसका संसार विकार अवश्य दूर हो गया।

२३०. एकान्त निवास के अभिलाषियों को दृढ़, भेदविज्ञानी होना नितांत आवश्यक है। अन्यथा वहाँ पतन की पूर्ण आशंका है।

२३१. प्राणियों के सिर पर मृत्यु मंडरा रही है उसे तो देखो, जरा सोचो कि यहाँ से मरकर कहाँ जायेंगे ? कौन २ साथ जायेंगे ? तथा आगे क्या होगा ? यदि इतना ही नहीं सोचते हो तो सोचलो आप ठगा रहे हो।

२३२. शान्ति-पथ पर चलने के लिए संयमी होना अत्यावश्यक है। संयम के लिए पैसा, नौकर, धन, स्त्री, पुत्रादि प्रतीक्ष्य नहीं है। संयम आत्म स्वभाव है। अतः इसके लिए पर-पदार्थों की आवश्यकता नहीं है।

२३३. ध्यान अध्ययन और पठन पाठनादि कार्यों में समय बिताओ। बेकार बैठने में दुष्कल्पनाओं के उद्भव होने का डर रहता है। कहा भी है "खाली दिमाग शैतान का घर होता है"।

२३४. ध्यान अध्ययन और भक्ति करने वालों को ऊनोदर तप करना चाहिये। क्योंकि पेट भर खाने से प्रमाद का डर

रहता है।

२३५. कभी भी ऐसी चेष्टा मत करो, जिससे तुम्हारा अंहकार प्रकट हो या दूसरों को उससे क्लेश पहुंचे।

२३६. अपने विचारों के प्रतिकूल दूसरों की परिणति देखकर संक्लेश मत करो। क्योंकि तुम्हारी परिणति ही तुम्हारे अधीन है दूसरों की नहीं।

२३७. हमेशा अपने में देखो कि कहीं मेरे में क्रोध, मान, माया, लोभ का उत्पात्त तो नहीं है, यदि है तो उसे निकालने का यत्न करो।

२३८. यदि पर वस्तुओं और परिवार के लोगों में ज्यादा ममत्व रखा तो मरते समय उनको देखकर भारी संक्लेश करना पड़ेगा। जिसका फल नरक गति में जाना और वहाँ असह्य वेदना सहना है।

२३९. अपराध करने वालों पर क्रोध की बजाय दया करो और समझावो कि इसमें आपका अहित है। तब तो उसके सुधार की गुंजाईश है अन्यथा उन पर क्रोध करोगे तो उनका सुधार तो होगा नहीं आप अपना भी नुकसान करोगे।

२४०. विरोध में अशांति है जबकि अविरोध में शांति। यदि कोई विरोध मोल लेकर शांति चाहता है तो वह धोखा खाता है।

२४१. अंहकार ममकार छोड़े बिना शांति नहीं मिलती। अतः अहं बुद्धि छोड़ो और सदा के लिए सुखी बनो।

२४२. शास्त्रों को पढ़कर ज्ञान बढ़ा लेना कोई बड़ी बात नहीं। लेकिन अपने में स्थित मान, माया, ममता, कषाय को त्यागना बड़ी बात है।

२४३. धर्म हीन संतान या शिष्य ज्यादा भी हों तो किस काम के ? यदि कम संतान व शिष्य हों पर वे योग्य और धर्मात्मा हों तो सौ गुना अच्छा है।

२४४. जो वक्ता लालसा व कषायों से युक्त है वह जन समूह को सच्चा मार्ग नहीं दिखा सकता है। जैसे बादलों से आच्छादित सूर्य संसार को स्व प्रकाश से प्रकाशित नहीं कर सकता है।

२४५. जिन कामों के करने से शांति मार्ग भंग न हो उसी में मानव की सच्ची शोभा है।

२४६. अपने पूर्व पाप, पुण्योदय काल में समताभाव से सुख, दुःख को भोग लेना ही कल्याण मार्ग में सहायक है।

२४७. यदि स्व कल्याण की इच्छा है तो ममत्व त्यागकर आत्म स्वरूप का चिंतवन करो। क्योंकि ममत्व से मात्र अकल्याण ही होगा जबकि निर्ममत्व से कल्याण।

२४८. यदि सत्पथ पर चलते हो तो चलते जावो। डरने की कोई आवश्यकता नहीं। सुपथगामियों को विघ्न बाधाएं तो मिलती ही रहेगी।

२४९. सच पूछो तो अपने उपर लादे हुए परिग्रह भार को उतारने से ही कल्याण होगा।

२५०. आत्महित चाहते हो तो बाह्य (दिखावटी) धर्म को छोड़कर

आभ्यंतर धर्म में श्रद्धा रखो और तदनुकूल आचरण करो।

२५१. संसार में भ्रमण करने का कारण यह है, कि हमने अपनी रक्षा न करके निरन्तर पर पदार्थों में ममत्व किया। सांसारिक यातनाओं को सहन करते रहे। अब भी यदि समझ जावें तो कल्याण दूर नहीं।

२५२. जो वस्तु नख से छेदी जा सकती है, उसके लिए बड़े २ शस्त्रों का प्रयोग बेकार है। इसी तरह आत्महित विपरीत अभिप्राय के अभाव में स्वयमेव होता है। फिर बड़े २ मनसुबे बनाना बेकार है।

२५३. अपनी परिणति को निर्मल बनाओ, क्योंकि उसी पर आपका अधिकार है। पर की वृत्ति आपके अधीन नहीं। अतः पर की चिंता करना व्यर्थ है।

२५४. हमारा तो यह पक्का विश्वास है कि जब आत्मा कलुषित रहती है तब तक संसार है। जिस समय कलुषित भाव मिटे नहीं कि फौरन संसार से छुटकारा मिला।

२५५ कल्याण के लिए अधिक समय की आवश्यकता नहीं। केवल परिणामों की निर्मलता की आवश्यकता है।

२५६. वास्तव में तत्त्व श्रद्धान ही एक विशिष्ट गुण है। जिन प्राणियों को तत्त्वों पर विश्वास नहीं, वे कभी भी आत्महित नहीं कर सकते हैं।

२५७. जो प्राणी ऐसा सोचते हैं कि हम तो दीन हैं, गरीब हैं, हमारे पास कुछ नहीं है, हम क्या कर सकते हैं। हम तो

असमर्थ हैं, वे कभी भी आत्मोन्नति नहीं कर सकते हैं।

२५८. साहसी पुरुष विचारते हैं कि जिन कर्मों का बंध करने वाले हम हैं, तो उनका नाश भी हम ही कर सकते हैं। वास्तव में आत्मा की शक्ति अचित्य और अनन्त है।

२५९. यदि हम मोक्ष मार्ग पर आरुढ होकर मन्दगति से भी निरन्तर ही चलते रहें, तो एक न एक दिन मोक्ष को अवश्य ही प्राप्त कर सकते ।

२६०. जहाँ तक हो सके संसार मार्ग और मोक्ष मार्ग को भली प्रकार देखो फिर उस पर चिंतन करो तत्पश्चात् जो इष्ट हो उसी मार्ग पर चलो।

२६१. वास्तव में ज्ञान वही है, जो स्व-पर विवेक करा देवे; अन्यथा उस ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं। जैसे आंख वही है जिसमें देखने की शक्ति हो। अन्यथा उसका होना न होना बराबर है।

२६२. तात्त्विक विचार की अचिन्त्य महिमा है। जिसके बल पर मानव निज और पर को भली भांति जान सकता है।

२६३. वास्तव में स्वाध्याय का प्रयोजन शांति लाभ है। जैसे व्यापार का आयोजन आर्थिक लाभ है।

२६४. वस्तु स्वरूप का परिचय होना ही आगम ज्ञान का मुख्य फल है। वस्तु स्वरूप को जानकर स्व और पर को भली प्रकार समझकर स्व में स्थित रहना चाहिये।

२६५. हमेशा राग-द्वेष के कारणों को जानकर अपने को रक्षित

रखते हुए जो मनुष्य पवित्र बनने की कोशिश करता है वह एक दिन अपने को मोक्ष के समीप पाता है।

२६६. जिस तरह मकान को पक्का बनाने लिए नींव आवश्यक है, उसी तरह उज्ज्वल भविष्य के लिए सुसंस्कारादि का होना भी आवश्यक है।

२६७. यदि आप परमपद पाना चाहते हो तो सबसे पहिले अपने चित्त को शांत तथा एकाग्र करना सीखो।

२६८. जिस जगह धार्मिक प्राणियों का निवास होता है, वहाँ की भूमि तीर्थ स्थान बन जाती है।

२६९ धर्म का यथार्थ स्वरूप समझाकर लोगों को धर्म की ओर झुकाया जाए तो धर्म का प्रचार हो सकता है।

२७०. जब तक आत्मा में कलुषता का कारण तामस भाव का अभाव नहीं तब तक समता भाव नहीं और जब तक ममता भाव है, तब तक समता कैसे हो सकती है ?

२७१. संसार में बन्ध की जननी इच्छा है और वही संसार की जननी है। जिन प्राणियों ने इच्छा पर विजय प्राप्त करली समझलो उन्होंने संसार का नाश ही कर दिया।

२७२. यदि आपको पुरुषार्थ करना है तो उपयोग को निर्मल बनाकर मोक्ष प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ करो।

२७३. अपनी आत्मा के अतिरिक्त पर द्रव्यों से अभिलाषा छोड़ देना निस्पृहता है। यह निरीहता ही एक ऐसी निर्मल परिणति है जो आत्मा को प्राय: सभी पापों से सुरक्षित

रखती है।

२७४. निरीहवृत्ति वाले जीव पापवृत्ति को छोड़ने में सदा सफल होते हैं। निस्पृहता मोक्ष मार्ग की जननी है।

२७५. जहाँ तक हो सके निस्पृह होने का यत्न करो। संसारी प्राणी मोह वश परिग्रह पिशाच के चंगुल में फंसे हुए हैं। किंतु इसके विरुद्ध प्रवृत्ति करना तो कोई पुण्यात्मा का ही काम है।

२७६. जो व्यक्ति निरीह होते हैं वास्तव में वे ही इन्द्रियजयी होते हैं। वे ही प्राणी शांति लाभ प्राप्त कर सकते हैं जो निस्पृह हैं।

२७७. मानव लोभ के आवेग में आकर किन २ नीच कृत्यों को नहीं करते ? कौन २ से दुःखों को भोगकर दुर्गति के पात्र नहीं होते ? इस लोभ द्वारा प्राणी अपना अधःपतन कर लेता है।

२७८. समीचीन ध्यान से हृदय में पवित्रता आती है। उस पवित्रता के सामने क्रूर से क्रूर प्राणी भी अपनी दुष्टता छोड़ देते हैं।

२७९. पर स्त्री की लालसा से रावण जैसा पराक्रमी राजा भी अपना सर्वस्व स्वाहा कर चुका है। अतः परस्त्री की ओर कुदृष्टि मत डालो

२८०. जगत् जाल में मन्द बुद्धि वालों का फंसना कोई बड़ी बात नहीं है। जहाँ तक हो सके अपने को इनसे बचाओ

अन्यथा सिवाय पछताने के आपके पास रहेगा ही क्या ?

२८१. जो ममता रूपी नीले रंग से रंगे गये हैं, उन पर समता रूपी कुसुमल रंग कैसे चढ़ सकता है ?

२८२. जैसे पानी को बिलोड़ने से मक्खन की उपलब्धि नहीं होती वैसे ही चारित्र के बिना कोरे ज्ञान से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

२८३. यह धन सम्पत्ति मोक्ष की बाधक है परन्तु मोही प्राणी इसे साधक समझते हैं।

२८४. प्राणियों की आवश्यकताएं तो इतनी हैं कि तीनलोक के सभी पदार्थ भी मिल जावें, तो भी पूर्ति नहीं हो सकती। अतः आवश्यकताएं न हों यही आवश्यक है।

२८५. राग दो प्रकार की है। शुभोपयोगिनी और अशुभोपयोगिनी भगवद् भक्ति आदि जो धर्म के अंग हैं, वे सब शुभोपयोगिनी जानो और विषय कषायादि जो पाप के अंग हैं उन्हें अशुभोपयोगिनी जानो। शुभोपयोग परम्परा मोक्ष का कारण है और अशुभोपयोग साक्षात् दुर्गति का कारण है।

२८६. इस विकट संसार-सागर से वही प्राणी निकल सकता है जो अपने में अपने को अपने लिए अपने द्वारा आप ही को प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है।

२८७. जो प्राणी पराधीन होकर कल्याण चाहता है वह कल्याण से वंचित रहता है। अपने स्वरूप को देखो। ज्ञाता-द्रष्टा होकर प्रवृत्ति करो, फिर आप कल्याण के संमुख है।

२८८. सांसारिक प्राणी कायर बनकर अपने को पराधीनता के जाल में अर्पित कर चुके हैं। इसी कारण वे संसार की यातनाओं को भोगते हैं।

२८९. तत्त्वज्ञ पुरुष वही है जो जगत् की प्रवृत्ति को देखकर हर्ष-विषाद न करे। वास्तव में घर छोड़ना कठिन नहीं अपितु मूर्छा छोड़ना अति कठिन है।

२९०. सांसारिक पदार्थों में स्नेह संसार का ही कारण है; किन्तु धार्मिक पुरुषों में स्नेह मोक्ष का कारण है।

२९१. यदि मानव अहं बुद्धि को हटादे तो फिर ममत्व बुद्धि हटने में कोई परेशानी नहीं।

२९२. जहाँ निर्ग्रन्थ साधु हैं वहीं तीर्थ है। जहाँ निस्पृह त्यागी रहते हैं वहीं अच्छा निमित्त है। जैसे जहाँ सूर्य है वहीं प्रकाश है।

२९३. वास्तव में इस असार संसार में सुख नहीं। यदि सुख होता तो महापुरुष इसको क्यों छोड़ते ?

२९४. द्रव्य का मिलना इतना कठिन नहीं जितना उसको सदुपयोग में लगाना। वास्तव में द्रव्य का मिलना और उसका सदुपयोग होना तो कोई विरले ही पुण्यात्माओं के भाग्य में होता है।

२९५. जिस काम के लिए रात-दिन सोचते हैं वह काम तो होता नहीं। जिनका कभी स्वप्न में भी विचार नहीं करते, वह अकस्मात् हो जाता है। जैसे राज्यभिषेक की तैयारी

करते समय कौन जानता था कि श्रीरामचन्द्रजी बन को चले जायेंगे ? विधि का विधान बड़ा विचित्र और होनी दुर्निवार होती है।

२६६. कहने की अपेक्षा करना कठिन है। जो जन रात-दिन सोचते ही रहते हैं, वे प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकते हैं।

२६७. वास्तव में सच्चा हितैषी तो वही है जो अपना पराया न जानकर प्राणी मात्र को हित की ओर ले जावे।

२६८. हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि आज बालकों को सन्मार्ग पर ले जाने के लिए धार्मिक शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है।

२६६. जो मानव लक्ष्य भ्रष्ट हैं वे ही सबसे बड़े मूर्ख हैं। उनका समागम छोड़ना ही हितकर है।

३००. धार्मिक क्रिया मात्र पर को दिखाने के लिए नहीं की जाती। इसको करने में बो आत्महित हेतु सुन्दर भाव होने की अत्यावश्यकता है।

३०१. धार्मिक कार्य करते समय प्रसन्न रहो। यदि पाप कर्म हो जाये तो तुरन्त आत्मनिंदा करते हुएं भविष्य में पाप कर्म न करने का प्रयत्न करते रहो। यही प्रायश्चित है।

३०२. सच और झूठ छिपाने से कभी नहीं छिपते। अतः अकार्य करते समय ऐसा कभी मत सोचो कि उसे कोई देखता नहीं है। आप में स्थित अनन्तशक्तिशाली आत्मा उसको

सर्वदा देखती है तो फिर अन्यों की क्या बात ?

३०३. संसार-सागर में डूबने का कारण आवश्यकता से अधिक धन संचय करना है। अतःएव आचार्यों ने इसे चोरी में शामिल किया है।

३०४. मानव-जन्म की सार्थकता तो स्वात्महित में है। जो जन लौकिक कार्यों में उलझे रहते हैं और रातदिन पाप कर्मों में प्रवृत्ति करते रहते हैं उनका मानव जन्म किस काम का ?

३०५. आत्म-कल्याण की साधिका तो निरीह वृति है। लौकिक मान्यता से आत्महित नहीं हो सकता है।

३०६. यदि आपको सांसारिक यातनाओं से भय है, तो जिन कारणों से वे उत्पन्न होती हैं उनमें स्निग्धता छोड़ो। वास्तव में शरीरादि के प्रति व्यामोह करना और अधर्म का सेवन करना ही दुःखों का कारण है।

३०७. वे ही प्राणी प्रशस्त और उत्तम हैं जो हर क्षण अपने कल्याण की सोचते हैं तथा उस मार्ग पर चलते हैं।

३०८. विचार करना तो सरल है पर सद्‌विचार करना बड़ा कठिन है। सांसारिक वस्तुएं प्राप्त होना तो सरल है परन्तु आत्मबोध होना अति कठिन है।

३०९. धन के मद में मतवाला मानव आत्मतत्त्व को नहीं जान सकता है। क्योंकि सभी मदों में धन का मद बड़ा विलक्षण मद है।

३१०. जो पराई सहायता चाहते हैं उन्हें दीन बनना पड़ता है।

वास्तव में दीनता ही संसार का कारण है ! अतः अपनी सहायता अपने आप करो ।

३११. किसी को उसके सन्मुख कहने की अपेक्षा उसके परोक्ष में निंदा करना महान् पाप का कारण है ।

३१२. इच्छाओं को दमन करने के लिए केवल अपने परिणामों को संभालकर रखो और संसार की अनित्यता पर पुनः २ विचार करो ।

३१३. यह प्रत्यक्ष बात है कि संसार में चारों गतियों में मानव-गति ही अच्छी है। परन्तु इतना कहने मात्र से नहीं । वास्तव में अच्छी तो तब है, जबकि इस मानव गति में आत्म स्वरूप को पहचान कर संयम धारण कर अनन्त संसार का छेद कर दिया जावे ।

३१४. प्रायः देखा जाता है कि छोटे छोटे कीटाणु (लट कीड़े) भी अपने से निर्बल प्राणियों को मारते रहते हैं ।

३१५. आचार्यों ने पर पदार्थों में मूर्छा या आसक्ति के अभाव में बन्ध का अभाव बताया है और इनके सद्भाव में बंध बताया है। अतः मानव का कर्त्तव्य है कि पर पदार्थों में तन्मय न होकर अपनी आत्म परिणति को संभालें ।

३१६ केवल यह जीव मोहवश जिस पर्याय में जाता है उसी में तन्मय हो जाता है तथा उसी पर्याय में रहना चाहता है । अपने स्वभाव की ओर लक्ष्य नहीं देता है ।

३१७. जो व्यक्ति वस्तु स्थिति को जानकर भी देह धनादि से

ममत्व नहीं छोड़ता, वह उन्मार्ग गामी जीव आत्महित से वंचित ही रहता है।

३१८. केवल वर्तमान परिस्थिति को देखकर तथा उससे घबराकर अधीरता से काम मत करो। संभव है अधीरता से उत्तर काल में गिर जाओ।

३१९. जो व्यक्ति साहस से काम करते हैं उनकी सभी विपत्तियाँ सरल हो जाती हैं। वास्तव में विपत्ति के समय में धीरता ही उपयोगिनी है।

३२०. यदि आपका हृदय सहमत है और वह शुभ कार्य है तो उसे अवश्य ही करो।

३२१. संसार के प्राणी जब तक अपने मन, वचन और काय की शुद्धि नहीं करते तब तक उनका संसार चलता ही रहेगा, जैसे मन की शुद्धि निर्मल विचारों से होती है वैसी औपचारिक ध्यान से नहीं होती। उसी तरह वचन की शुद्धि निश्छल उदगार से होती है; केवल शाब्दिक ज्ञान से नहीं होती। ठीक इसी तरह शरीर की शुद्धि भी उज्ज्वल आचरण से होती है केवल स्नान करने से नहीं।

३२२. यदि आप दुनिया को सुधारने की अथवा सबका कष्ट मिटाने की धुन में रहते हैं तो सबसे पहले आप अपने को सुधारने की चेष्टा करो तभी आपकी उपरोक्त शुभ भावना सफल होगी।

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

संयम की ओर

१. देखो प्राप्त हुए भोगों को मानव भोग ही नहीं पाता है, कि उसे ससार छोड़कर जाना पड़ता है। वास्तव में सांसारिक सुख, ऐश्वर्य और इन्द्रिय भोग क्षणभङ्गुर है। इनसे प्राणियों को कभी भी तृप्ति नहीं आती है। अतः सुख और शान्ति के इच्छुक मानवों को भोगों का त्याग कर संयम को स्वीकार करना चाहिये।

२. यह आत्मा अनादिकाल से मिथ्यात्व मोह के वश होकर इस संसार वन में भ्रमण कर रहा है। किसी पुण्य कर्म के योग से यह मानव पर्याय, उत्तम कुल, जिनधर्म, दीर्घ आयु, इन्द्रियों की पूर्णता आदि प्राप्त हो गई है। इस पर भी यदि प्रमाद वश आत्महित प्रयत्न नहीं किया तो समझलो कि अभी संसार लम्बा है अर्थात् अनन्त संसार बाकी है।

३. इस संसार में देह रूप गेह का नेह प्रलय काल का मेह है। आत्मस्वभाव रूपी वन को भस्म करने के लिए कल्पान्त

काल की अग्नितुल्य है। वास्तव में इसी की ममता से प्राणी कर्म जाल में फंसता है।

४. संयम एक बर्तन है जिससे कर्ममल बाहर फेंका जा सकता है। दान-उपार्जन किये हुए अपने धन को परलोक में ले जाने का एक साधन है।

५. सम्यग् चारित्र एक बाण है, जिसको सद्ध्यान रूपी धनुष पर चढाकर मोह रूपी शत्रु का घात किया जाता है। ध्यान समीचीन सुखद स्वकीय घर है- जिसमें बैठकर आत्मा अपनी आत्मा स्वरूप का अनुभव करता है।

६. भोग इस आत्मा के शत्रु हैं। संसार रूपी कारागृह में बन्द करके दुःखी करने वाले हैं और भवरोग को बढाने वाले हैं अर्थात् जीव को सन्मार्ग से विमुख करने वाले हैं। सच तो यह है कि इन भोग रूपी रोग के कारण यह आत्मा अनादि-काल से संसार रूपी हास्पिटल में अपने भोग रूपी रोग का इलाज कराता है।

७. रोग अग्नि की ज्वाला है जो शरीर को संतप्त करके आत्मा को अपने स्वभाव से च्युत कर देता है।

८. बोधि रत्नत्रय की प्राप्ति है जो प्राणियों को भवरोग से निरोग कराके सदा सदा के लिए अमर बना देती है। इसी तरह समाधि प्राणियों को मोक्ष के सन्मुख ले जाती है तथा अनन्त संसार से पार करने के लिए एक सुन्दर वाहन है।

९. हे आत्मन् ! इस विकराल काल के मुख से बचाने के लिए एक मात्र संयम ही समर्थ है। अतः संयम को धारण करो। विषय विष खाकर व्यर्थ में मानव पर्याय का नाश करना उचित नहीं है। यह विषय भोग प्राणियों को सन्मार्ग से च्युत कर दुर्गति में ले जाते हैं जहाँ पर प्राणी रातदिन भंयकर दुःखों को भोगते रहते हैं।

१०. हे भाई ! यह मानव पर्याय का सुअवसर जो तुझे मिला है, इसका एक एक क्षण बहुमूल्य है। अतः इसका सदुपयोग कर। यह तेरा मन मर्कट विषय-वासनाओं की शराब पीकर मदोन्मत्त हो रहा है। तेरे संयम रूपी बगीचे का नाश कर रहा है। समय रहते तुझे अपने आत्म गौरव को पहिचान कर इन विषय-वासनाओं से अपनी प्रवृत्ति हटा लेना ही लाभदायक है वरना न जाने यह पर्याय कब पूरी हो जावे और फिर पछताना ही शेष रह जावे।

११. वास्तव में ध्यान रूपी नाविक संयम की पतवार और त्याग के लंगर को स्वीकार करने वाला मानव ही संसार-समुद्र को पार कर सकता है।

१२. भोगाभिलाषा वास्तव में लवण-समुद्र का खारा पानी है। जिसके पीने से पिपासा शान्त नहीं होती है। ठीक उसी प्रकार भोगों से इच्छा शांत नहीं होती है, उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इसी तृष्णा के कारण प्राणी अपनी आत्म परिणति से च्युत होकर संसार में भारी दुःखों का सामना

करता है।

१३. तृष्णा रूपी बगीचे में इच्छा रूपी अंकुर उगते हैं। जिसमें भोगों की अभिलाषा जाग्रत होती है तथा मूर्छा उसी अंकुर को बढती हुई डाली है जिसमें भौतिक पदार्थों के तीव्रतम संग्रह की कोंपल उत्पन्न होती है। कांक्षा उसी अंकुर के पुष्प हैं जिनमें सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करने के लिए आशा के फल लगते हैं।

१४. आचार्यों ने मन, वचन और काय पर गुप्ति करने को कहा है। कैसी है मनोगुप्ति ? जैसे एक परकोटा, जिसमें विकार रूपी राक्षस प्रवेश नहीं कर सकते। वचन गुप्ति-सजग पहरेदार, जिसमें विवाद रूपी तस्कर कुछ भी हरण नहीं कर सकते। काय गुप्ति-फौलादी लौहागार-जिसमें कर्मरूपी खूंखार डाकू प्रवेश नहीं कर सकते। इस तरह जिन महापुरुषों ने इन तीनों गुप्तियों को प्राप्त किया, उन्होंने मानो सारे संसार पर ही विजय प्राप्त कर ली है।

१५. जो मानव अपने व्रतों की विराधना करते हैं वे मानो हलाहल विषपान ही करते हैं। जिससे समीचीन प्रवृत्ति का नाश होता है और फिर प्राणी अनन्त जन्म-मरण का दुःख भोगता रहता है।

१६. संसार में आराधना एक अमोघ मंत्र है। जिससे प्राणी समीचीन प्रवृत्ति में अपने मन को स्थिर कर सकता है।

इसी आराधना रूपी अमृत धार से प्राणी रोग और भोग का संताप दूर कर सकता है।

१७. अपनी आवश्यकता तथा मनोवृत्ति के अनुसार धन, धान्यादि की मर्यादा बांध लेना ही लालच रोग से मुक्त होने का सच्चा उपाय है। रागद्वेष को जीतकर समता भाव धारण करना तथा सुख दुःख के समय साहस पूर्वक अपने लिए हुए व्रतों का पालन करना ही गौरव की बात है।

१८. वास्तव में सच्चा योगी वही है जो रागद्वेष को जीतकर समताभाव धारण करे तथा सुख दुःख में साम्यभाव रूपी विचारों से आचरण करे।

१९. हे आत्मन् ! अगर तू कर्मों से छूटना चाहता है तो तुझे आत्म दर्शन के साथ साथ विषयों के प्रति निस्पृहता पूर्वक संयमी जीवन बिताना आवश्यक है।

२०. मानव के लिए अहिंसात्मक जीवन वीरता का पोषक तथा जीवन दाता है। जीवन में संयम का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

२१. पापी अधर्मी जीवों को आत्महित कारी उपदेश कटु प्रतीत होता है। जैसे पित्त-ज्वर वाले रोगी को मधुर दूध कड़वा लगता है। क्योंकि पाप के उदय से मानवों की मति विपरीत हो जाती है।

२२. संसार में भोगों का रोग असाध्य है, जिसकी दवा संयम है तथा भोग रूपी अग्नि को संयम रूपी जल से शान्त करना

चाहिये। संयम रूपी निधि को नाश करने वाले विषयभोग शत्रु ही हैं तथा भोगों का जहर आध्यात्मिक जीवन को दूषित कर देता है।

२३. यह संसार संयोग, वियोग, सुख, दुःख, ईर्ष्या और विषाद् का संगम स्थल है। इसमें विषय-वासना रूपी बन्दर से संयम रूपी खेत की रक्षा करनी चाहिये। अगर मानव भव पाकर विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त नहीं किया तो भव भव में भटकना ही पड़ेगा।

२४. हे आत्मन् ! भोगों की इच्छा भोगों से तृप्त नहीं हो सकती। जैसे अग्नि को ज्वाला ईन्धन से शान्त नहीं होती है। भोगों की इच्छा को शान्त करने का उपाय "त्याग" है। अतः 'त्याग' धर्म अपनाकर सुखी हो सकते हो।

२५. संसार में कामीजनों के हृदय में हेयोपादेय का विचार नहीं रहता है। काम रूपी हाथी हो निरंकुश होकर संयम रूपी वृक्ष को उखाड़ देता है, तथा काम वासना नरक नगर में प्रवेश कराने के लिए प्रतोली (प्रवेशद्वार) है।

२६. मानव का अंहकार नष्ट होने से ज्ञान के अंकुर प्रस्फुटित होते हैं। जिसके वचन में मधुरता है, उसका कोई शत्रु नहीं है। जिसके हाथ में संयम रूपी खड्ग है वह मोह रूपी शत्रु का नाश कर देता है।

२७. संसार में प्रवृत्ति और निवृत्ति जीवन दो मार्ग है। प्रवृत्ति मार्ग सरल है और निवृत्ति मार्ग कठिन है। परन्तु प्रवृत्ति

मार्ग संसार का जनक है, जबकि निवृत्ति मार्ग मोक्ष स्वरूप है।

२८. इस बात में दो राय नहीं कि वेशभूषा तथा रहन सहन परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं। पर यदि हम अपनी संस्कृति एवं परम्पराओं की रक्षा तथा जीवन को सुखी बनाना चाहते हैं तो हमें भक्ष्य अभक्ष्य का ध्यान रखते हुए खान-पान तथा आचार-व्यवहार की मर्यादा को स्वीकार करना ही पड़ेगा। स्वच्छन्दता मानव को दानव भी बना देती है। मन की पवित्रता के लिए संयम अत्यन्त आवश्यक है।

२९. शील, संयम तथा व्रत की मर्यादा के बिना मानव चाहे जितना धन संग्रह करले तथा साधन जुटाले परन्तु अपने जीवन को सुखी नहीं बना सकता और न भवान्तर में भी सुखी हो सकता है।

३०. आगे अनेक महापुरुषों ने सफेद केश तथा बिजली की चमक बादलों के विलय आदि को देखकर जीवन की अनित्यता एवं निस्सारता को जानकर और विरक्त होकर तपश्चर्या का मार्ग अपनाया। परन्तु आज का मानव इन्द्रियों का इतना गुलाम बन गया कि भक्ष्याभक्ष्य का भी ज्ञान नहीं रहा। केवल बातों से या ज्ञान की बड़ी२ बातें बनाने मात्र से आत्म कल्याण नहीं हो सकता। इन्द्रिय संयम तथा मन को निश्चल किये बिना आत्मा के अनन्त सौन्दर्य की

झलक मात्र तक प्राप्त नहीं हो सकती।

३१. वास्तव में यथार्थ ज्ञान तो हमारी आत्मा में ही विद्यमान है। परन्तु कर्म रूपी आवरण ने उसे ढक रखा है। उस कर्म-मल को साफ करने में हम ही समर्थ हैं। उसके लिए संयम, तप, श्रद्धा आदि की आवश्यकता है।

३२. जब तक हम भोग और विषय-कषायों को सच्चा स्वरूप समझकर विरक्ति तथा संयम को जीवन में नहीं अपनायेंगे, तब तक हमें शाश्वत सुख का मार्ग नहीं दिख सकता है।

३३. आज लोग संयमादि शाश्वतिक गुणों की अवहेलना करते हुए स्वच्छन्दता पूर्वक जिस तिस पदार्थों का भक्षण करते हैं यही दुःख का मूल है।

३४. अन्तरंग और बहिरंग त्याग के बिना आत्म-कल्याण नहीं हो सकता। जैसे मक्खन प्राप्त करने के लिए हमें दही मथने की दोनों रस्सियों को आवश्यकतानुसार खींचना और ढीला करना जरूरी है उसी प्रकार तत्त्व ज्ञान का संतत अभ्यास तथा अन्तर बाह्य दोनों प्रकार के त्याग से ही आत्म कल्याण हो सकता है। यही राजमार्ग है।

३५. कई व्यक्ति अनेक प्रकार की शारीरिक और यौगिक क्रियाओं को तप की संज्ञा देते हैं, परन्तु वे अपने को भुलावे में डाल रहे हैं। मात्र इन क्रियाओं से आत्मा के अनन्त वैभव-शाली रूप की प्राप्ति संभव नहीं। जब तक ज्ञान और दर्शन पूर्वक आत्मतत्त्व की सही पहिचान और श्रद्धा

उत्पन्न न हुई हो। इसका यह अर्थ नहीं कि केवल आत्मा की रट लगाने से ही आत्मा प्राप्त हो जाती है। आचार्यों ने सम्यग्-दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र तीनों की प्राप्ति में ही मोक्ष मार्ग माना है।

३६. अभिलाषाओं एवं आसक्ति के निग्रह पूर्वक किया गया तप फलदायी होता है। तप की सिद्धि व्रत के बिना नहीं हो सकती है।

३७. जिन्होंने आत्महित के लिए साधु पद को ग्रहण किया है उन्हें ६ आवश्यक बातों का पालन करना ही चाहिये। सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। इसी तरह श्रावक के भी ६ आवश्यक कर्त्तव्य हैं। देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, दान और तप।

३८. महापुरुषों ने लोभ को पाप का बाप बताया है। मानव अन्य कषायों को तो यथा किंचित् कम भी कर लेता है, परन्तु लोभ शत्रु पर विजय पाना अति कठिन है।

३९. मानव के जप, तप, संयम की शोभा, तभी है कि जब वह अपनी विषयाशक्ति को धीरे-धीरे मन्द करता हुआ नष्ट कर दे।

४०. आत्मा की शुद्ध अवस्था तपस्या द्वारा प्राप्त होती है। संयम धारण करने से ही आत्म कल्याण का मार्ग खुलता है। जैसे दूध को बिलोने से मक्खन निकलता है।

४१. इन्द्रिय-जन्य इच्छाओं पर संयम ही अंकुश है उस अंकुश से ही प्राणी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से बचता है। भोजन में संयम ही स्वास्थ्य की रक्षा में सहायक है।

४२. सीमित भोजन और अभक्ष्य का त्याग होने से शरीर नीरोग रहता है। नीरोग शरीर धर्म साधन में सहायक है। वचन का संयम कषाय को रोकता है। संयमी पुरुष ही सम्यग्-दर्शन, ज्ञान और चारित्रोन्मुखी हो सकता है। जैसे रेलवे सिग्नल दुर्घटनाओं से बचाकर हमारी रक्षा करता है उसी तरह संयम रूपी सिग्नल, हमें सम्यग् मार्ग पर लाता है।

४३. कई व्यक्ति जो आत्म श्रद्धान के बिना कोरी क्रियाओं को ही सर्वेसर्वा मानकर अपने को कृतकृत्यका अनुभव करते हैं। वस्तुत वीतराग मार्ग में किसी भी प्रकार के एकान्त को कोई स्थान नहीं है। आत्मदृष्टि से सम्यग्-दर्शन, ज्ञान, चारित्र से समन्वित निष्काम तप ही मुक्ति का सच्चा मार्ग है।

४४. इस निकृष्ट काल में संहनन उत्तम न होते हुए भी जो महाभाग संयम अर्थात् चारित्र को धारण करके अपना आत्म-हित कर रहे हैं वे जगत्पूज्य हैं। वे अल्प-काल में ही आगे चलकर द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि की योग्यता प्राप्त करके कर्म बन्धन काटकर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

४५. केवल बातों से ही आत्मा पर लगे हुए कर्म-रूपी कलंक

नहीं मिट सकते। संयमी और तपस्वी साधु आगे चलकर अन्तर में ज्ञान-ज्योति जागृत कर सकते हैं जैसे अग्नि की लपटों में तपाये बिना सोना सुवर्णता को प्राप्त नहीं होता तथा रोटी दोनों ओर से सीकने पर ही रोटी का रूप धारण कर सकती है उसी प्रकार त्याग तपादि के ताव के बिना मानव महामानव नहीं बन सकता है।

४६. जो लोग साधुओं के बारे में निराधार शंकाएं करते हैं वे मानो अपने सिर से पहाड़ फोड़ना चाहते हैं। परन्तु पहाड़ फूटने वाला नहीं। फूटेगा तो उनका सिर ही। वास्तव में त्यागियों के आचरण पर अधिकार पूर्वक टिप्पणी करने का अधिकार त्यागियों को ही है।

४७. संसार में त्याग के बिना मानव-जीवन की कोई सार्थकता नहीं। त्याग ही मानव जीवन का श्रृंगार है। वास्तव में संग्रह करने वाले अपना पतन करते हैं। और त्यागने वाले अपनी आत्मा का उत्थान करते हैं।

४८. जो व्यक्ति रात-दिन परिग्रह संचय ही करते हैं वे इसी प्रकार हैं जैसे अपनी तैरती हुई नाव में पत्थर डालता चला जावे। अतः निःसन्देह ही वह नाव डूबेगी। उसी प्रकार जो पर पदार्थों में संग्रह बुद्धि रखते हैं वे भी इस संसार-सागर में डूब जायेंगे।

४९. जो ऐसा विचारते हैं कि मेरी आत्मा के अतिरिक्त और कोई पदार्थ मेरा नहीं है। ऐसा समझकर जो अपनी

आत्मा में लीन रहते हैं वे ही अपना सच्चा हित करते हैं।

५०. संसार में मोही प्राणी परिग्रह की पकड़ में इस तरह आ गये हैं कि न तो उसे भोग ही सकते हैं और न छोड़ ही सकते हैं। संडासी में पकड़ा हुआ सांप, अपने मुंह में पकड़ी हुई छिपकली को न तो खा सकता है और न छोड़ ही सकता है।

५१. सम्यग्दृष्टि प्राणी संसार की असारता को जानता हुआ क्रमशः परिग्रहादि से विरक्ति की ओर अग्रसर होता है। वह बाह्य पदार्थों में नहीं अटकता है। परन्तु उसकी दृष्टि तो अन्तर की ओर रहती है। क्योंकि उसकी आत्मा की दीवार पर हर समय आकिंचन की फोटू टंगी रहती है।

५२. मोह को जीतने वाला ही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है। अन्यथा मानव, जन्म और मरण रूपी चक्की में पिसता ही रहता है।

५३. स्वच्छन्द और अमर्यादित जीवन इहलोक और परलोक दोनों के लिए दुःखदायी है। प्राणियों को आत्महित की लगन रखते हुए संयम, व्रत, नियम, पूजा, पाठ, आदि पवित्र कामों को अपनाना चाहिये।

५४. वास्तव में यदि मानव-भव पाकर के भी त्याग और विरक्ति की भावना नहीं आई तो उनका जीवन व्यर्थ है।

५५. जो व्यक्ति पांचों पापों को त्यागकर पंच समिति और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोक कर आत्म ध्यान करते हैं वे अल्पकाल में ही मुक्त हो जाते हैं।

५६. संसार में धन-सम्पत्ति बन्धु-बान्धवादि प्रत्यक्ष में पर हैं। यह जो अपना शरीर-जिसको रातदिन संभालते हैं वह भी साथ नहीं जाता है। फिर भ' प्राणी अज्ञान वश अपना ही मानता है और भाव भवान्तर में भटकता रहता है।

५७. वास्तव में धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-परिवार आदि की रक्षा की भावना और उनसे बिछुड़ने की आकुलता ही अनन्त दुःख का कारण है।

५८. पापोदय के समय मानव को न तो शरीर साथ देने वाला है और न ईंट-पत्थरों से बना महल। इन्हें अपना मानकर मोह करते हैं और इन्हीं की रक्षा में अपना अमूल्य मानव भव खो देते हैं। अतः सभी चेतन अचेतन पदार्थों से ममत्व छोड़कर हमें अपने अनन्त वैभवशाली आत्मा का हित करने में प्रयत्न करना चाहिये।

५९. मानव जोवन का परम आभूषण संयम है। संयम के बिना मानव जीवन और पशु के जीवन में कोई फर्क नहीं। कर्मों को काटने के लिए संयम, ढाल का काम करता है।

६०. जब तक प्राणी पर पदार्थों को अपनाता रहेगा तब तक संसार का चक्र चलता ही रहेगा। राग-द्वेष को छोड़कर जब मानव अपनी आत्मा में गोता लगावेगा तो समझलो

संसार है ही नहीं । अर्थात् संसार सागर का किनारा आ गया ।

६१. अनादिकाल से प्राणी अपने स्वरूप को भूलकर के अपनी आत्मा से बहिर्मुखी होकर पर-पदार्थों को अपना रहा है । अगर एक बार भी तीन लोक की निधि से भी श्रेष्ठ अपने अनन्त गुणों के सौन्दर्य का दर्शन करलें तो चिरस्थायी तृप्ति हो सकती है ।

६२. शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए सम्यग् दर्शन पूर्वक बारह भावनाओं का चिन्तवन करना परम आवश्यक है ।

६३. आचार्यों ने बताया है कि युक्ति बिना मुक्ति नहीं । अतः मुक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा है तो रत्नत्रय को धारण करो । जैसे सम्यग् दर्शन कर्मों को निकालने की विधि बतलाता है, सम्यग् ज्ञान एक सिपाही की तरह कर्मों को रोकता है और सम्यग् चारित्र इन कर्मों को निकाल देता है ।

६४. मानवों को अपना आचरण निर्मल और खान-पान शुद्ध रखते हुए, सांसारिक चिन्ताओं को हटाना चाहिये और आत्म चिन्तवन करना चाहिये ।

६५. शरीर में ताप या बुखार मापने के लिए थर्मामीटर की आवश्यकता होती है उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन के लिए ज्ञान के साथ चरित्र की आवश्यकता होती है ।

६६. आचार्यों ने बताया कि जहाँ चारित्र को हेय समझे वहाँ

सम्यग्दर्शन ही नहीं अथवा सम्यग् ज्ञान ही नहीं।

६७ आज का मानव भौतिक सुख-सुविधा और आधुनिकता के मोह फांस में फंसकर भक्ष्य अभक्ष्य का विचार किये बिना ही खाने में संकोच नहीं करता है। यह सब हमारी संस्कृति और धर्म के विरुद्ध तो है ही साथ ही चरित्र पतन का भी कारण है।

६८. प्राणियों को अपनी रसनेन्द्रिय को अश्व की तरह बांधकर रखना चाहिये। अर्थात् भक्ष्य अभक्ष्य को भली प्रकार देख-कर खाना चाहिये। अन्यथा बिना लगाम का अश्व खड्डे में गिरा देता है वैसे ही अभक्ष्य भक्षण से आत्मा दुर्गति में गिर जाता है।

६९. शील और संयम ही मानव-जीवन के सच्चे आभूषण हैं। इन गुणों के बिना अन्य गहनों की कोई कीमत नहीं।

७०. अनेक शास्त्रों का ज्ञान होते हुए भी अगर मानव त्याग धर्म को नहीं अपनाता तो वह आत्म दर्शन से शून्य है। कोरे ज्ञान-ज्ञान का ढोल पीटने से संसार परिभ्रमण समाप्त नहीं हो सकता।

७१. साधु को बाह्य प्रवृत्ति में बधिर, अन्ध और मूक रहना चाहिये तथा अन्तर प्रवृत्तियों में सदैव जागरुक रहकर आत्म निरीक्षण रत रहना चाहिये।

७२. प्राणी प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि जिस शरीर के पालन-पोषण और सेवामें हम जन्म भर लगे रहते हैं, वह शरीर

हमारा थोड़ा भी साथ नहीं देता है। फिर कुटुम्ब, परिवार, धन-दौलत आदि से अपेक्षा रखना कि यह हमारा साथ देंगे, यह एक हमारी भारी भूल है।

७३. आचार्यों ने इस शरीर की अशुचिता तथा इसकी विकृत प्रकृति का हमारे सामने विशद वर्णन किया है। फिर भी हम मोह-वश इसी की सेवामें अपना जन्म गंवा देते हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि हम इस शरीर से व्यामोह न करके इससे तपश्चर्यादि कर आत्महित करलें।

७४. संयम, व्रत, शास्त्र-स्वाध्याय, आदि जीवन में शान्ति प्राप्त कराने में कारण हैं। इस शांति के सद्भाव में मानव अपना आत्महित कर सकता है।

७५. हम रात-दिन पर-पदार्थों के संग्रह में अपना समय व्यतीत करते हैं। परन्तु खेद है कि हमें आत्महित के चिन्तवन के लिए फुरसत ही नहीं मिलती और न कभी आत्महित की ओर ध्यान ही देते हैं।

७६ मानव को धीरे २ परिग्रह त्याग का अभ्यास करना बहुत जरूरी है। अगर मानव चाहे तो दैनिक उपयोग की वस्तुओं की मात्रा धीरे-धीरे कम करके अपनी आवश्यकताओं को घटा सकते हैं।

७७. वास्तव में बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह के प्रति आसक्ति घटाना जरूरी है। पशु पक्षियों के पास बाह्य परिग्रह दिखाई नहीं देता है। परन्तु वे तीव्र कषाय रूपी

आन्तरिक परिग्रह से अत्यन्त व्याकुल रहते हैं। अतः दोनों प्रकार के परिग्रहों के प्रति आसक्ति नहीं रखनी चाहिये।

७८. त्याग व्रत ग्रहण करने के लिए मुहूर्त देखना ठीक नहीं है; क्योंकि स्वांस का भरोसा नहीं। इस हालत में शुभ काम को करने में ढील नहीं बरतनी चाहिये।

७९. जीवन को पवित्र और मर्यादित बनाने के लिए व्रत और संयम का बन्धन अत्यावश्यक है। जैसे मकान को वर्षा और धूल से बचाने के लिए खिड़की तथा कम्पाउंड (बरामदा) की आवश्यकता होती है।

८०. इस दुर्लभ मानव भव की सार्थकता संयम धारण करके हमेशा के लिए भवरोग को मिटाने में ही है। अगर सम्पूर्ण संयम धारण करने में हिचकिचाते हो तो कम से कम एक देश चारित्र को तो अवश्य ही धारण करो।

८१. मानव इस संसार के बंधन से छूटना चाहते हैं, परन्तु अपनी ही भूल से विषय वासनाओं के अधिकाधिक बंधन में फंसते जा रहे हैं।

८२. जिन्होंने इन कर्मों के बंधन को तोड़ने हेतु संयम को अपनाया है, वे परिग्रह रहित साधु ही व्रत, संयम, आदि साधनों से अपनी आत्मा को सुसंस्कारित करके वज्र से भी कठिन कर्मों को काटने में सफल हो सकते हैं।

८३. वास्तव में पर पदार्थों से स्नेह ही बन्धन का कारण है। जब तक इन से विरक्ति न होगी तब तक संसार का बन्धन

गाढा ही होता जावेगा। अतः आत्म-हित चाहने वालों का कर्त्तव्य है कि वे पर पदार्थों से विरक्त रहें।

८४ सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति का जोर जब साधारण हो जाता है, तो समझलो उसी क्षण से जीवन में सफलता का अंकुर उत्पन्न होने लग जाता है।

८५. वास्तव में सुख तो त्याग में है भोग और संग्रह में नहीं। प्राणी इच्छाओं की तृप्ति के लिए वस्तुओं के सग्रह के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। फिर संग्रहीत वस्तुओं की व्यवस्था तथा रक्षा में नई चिन्ताओं से घिर जाते हैं।

८६. वास्तव में बात यह है कि प्राणियों के व्रत, तप, त्याग तपस्यादि की बात जब उनके सामने आती है तब वे शुद्ध निश्चय की बात करने लगते हैं। और उनका सांसारिक स्वार्थ सिद्ध करने की बात आती है तो व्यवहार से चिपकते हैं, अर्थात् हाथी के दांत खाने के और दिखाने के और होते हैं की कहावत चरितार्थ करते हैं।

८७. वास्तव में सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों के होने से मोक्ष मार्ग होता है। अगर कोई कोरा ज्ञान ज्ञान चिल्लाता है, परन्तु चारित्र धारण करने में अपने को अकर्मण्य बनाये रखता है तो वह मुक्ति सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता है।

८८. संसार में शरीर के लिए भोजन और आत्मा के लिए भजन आवश्यक है। अगर शरीर के लिए भोजन न दिया जावे तो वह धीरे-धीरे मृत्यु के निकट पहुंच जावेगा और आत्मा

के लिए भजन न किया तो वह संसार से पार नहीं हो सकती। अगर कोई मानव भोजन ही भोजन करता रहे और भजन न करता हो तो मनुष्य में और पशु में क्या अन्तर है? पशु पक्षी केवल भोजन करते हैं, भजन नहीं कर सकते हैं। परन्तु मानव तो भोजन और भजन दोनों कर सकते हैं।

८९. ज्ञान का फल वैराग्य है तथा अज्ञान निवृत्ति है। जैसे गाय की शोभा दूध देने से है न कि लम्बे-लम्बे सींगों से।

९०. संसार में उस प्रचुर ज्ञान से भी कोई लाभ नहीं जो ज्ञानवान् होते हुए भी प्राणियों को समीचीन मार्ग का दर्शन न करावे। जैसे अनुपयोगी समुद्र के अथाह खारे जल से क्या लाभ? अर्थात् कोई लाभ नहीं।

९१. जिस व्यक्ति के हृदय में परोपकार की भावना का अंकुर पैदा हो जाता है उसके हृदय रूपी लता पर एक दिन दया रूपी पल्लव तथा विनय बिवेक रूपी पुष्प विकसित होते हैं। इतना ही नही अन्तमें वैराग्य रूपी फल भी फलते हैं।

९२. अगर आपको पापों से बचना तथा अपने स्वास्थ्य को ठीक रखना है तो आप कम से कम अभक्ष्य आदि का भक्षण न करें। अन्यथा इस भव में स्वास्थ्य हानि होगी और आगे जब पाप उदय होगे तब फूट-फूट कर रोना पड़ेगा।

९३. जो प्राणी धन संग्रह की लोलुपता में अपने धर्म को बेच देते

हैं उनके लिए वह पाप से उपार्जित धन ही दुर्गति का कारण बनता है। उसी, पापोपार्जित धन के लिए वह अन्त समय में तड़प-तड़प कर रोता है, कि देखो मैंने कितने अन्याय अत्याचार करके इस धन को प्राप्त किया था परन्तु यह आज मेरा साथ नहीं देता। इसको उपार्जन करने में जो मैंने पाप संचित किया था वह अब मुझे ही भुगतना पड़ेगा।

६४. सांसारिक पदार्थों की इच्छा से भगवद्-भक्ति करना या दान आदि देना कार्यकारी नहीं। यह यदि पर पदार्थों के ममत्व को छोड़कर आत्महित के लिए किया जावे तो उत्तम है।

६५. मोक्ष में पूर्ण ज्ञान और दर्शन का सद्भाव है तथा निरापद सुख का भण्डार है। उसमें पापी तथा स्वार्थी के लिए स्थान नहीं तथा उसके स्वर्णिय द्वार में पुरुषार्थहीन तथा असंयमी के लिए प्रवेश करने का मार्ग ही नहीं। अधर्मियों तथा नास्तिकों से उसके प्रकाश में कोई फर्क नहीं पड़ता।

६६. संसार के प्राणियों ने अनादि-काल से मोह, माया, स्वार्थ, अज्ञान और पक्षपात आदि की दीवार बना रखी है और उन्हीं दीवारों में रहते आये हैं। यदि वे अपने समीचीन ज्ञान रूपी हथौड़े से इन दीवारों को तोड़ना शुरू करदें तो संयम रूपी प्रकाश के सहारे अपना हित कर सकते हैं।

६७. जो प्राणी रात-दिन आरम्भ परिग्रह में समय बरबाद करते हैं। वे स्वयं अपने शत्रु हैं। परन्तु जो गृहस्थाश्रम में

प्रारम्भ परिग्रह को सर्वथा नहीं छोड़ सकते, पर अपने बचाव के लिए यथा समय धार्मिक क्रियाओं को करते रहते हैं तथा आत्म बोध हेतु आतुर रहते हैं, वे महान् हैं।

९८. जो प्राणी पापों से डरते हैं और धार्मिक कामों में आगे रहते हैं, वस्तुतः वे अपने रक्षक हैं। अतः मानव का कर्त्तव्य है कि वह हर समय बुरे कामों से बचे और अपनी आत्म-परिणति को निर्मल बनाकर आत्महित के मार्ग में गमन करें।

९९. प्राणी अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए बाह्य पदार्थों को नहीं बदल सकता, किन्तु अपनी इच्छाओं को बदल सकता है।

१००. संसार से पार होने में सफलता वही प्राणी प्राप्त कर सकता है जो अपने मन से दुर्गुणों एवं दुराचारों को निकालने के लिए प्रयत्न करता रहता है तथा अपने मन और इन्द्रियों पर शासन करने की क्षमता रखता है।

१०१. जिन्होंने अपनी इच्छाओं को त्याग कर उन पर विजय प्राप्त करली है, उन्होंने सब कुछ त्याग दिया अर्थात् वे ही प्राणी संसार में महान् हैं।

१०२. मोक्ष मार्ग की प्राप्ति के लिए महान् आचार्यों के वाक्यों पर श्रद्धान करना होगा, जानना होगा और उनके बताये मार्ग पर चलना होगा। यह याद रहे कि यह तभी संभव है जब मानव संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति लेवें।

१०३. जिसको संसार से भय पैदा हो गया है वह अधर्म को स्वीकार कैसे करेगा ? जैसे किसी को शीत ज्वर हो रहा है तो भला वह ठन्डे पानी व बर्फ को कैसे चाहेगा ?

१०४. लोहे की सांकल को शरीर के बल से मानव तोड़ सकता है पर मोह रूपी सांकल को शरीर के बल से न तोड़कर वैराग्य तथा ज्ञान रूपी बल से सदा-सदा के लिए तोड़कर बन्धन मुक्त हो सकता है।

१०५. यथार्थ में आत्मा अमूर्त है और निश्चित-रूप से आत्मा के बन्धन भी नहीं है। परन्तु संसारी आत्मा व्यवहार से मूर्त भी है तथा उसके बन्धन भी होते हैं। यदि आत्मा सर्वथा शुद्ध होती तो फिर उसके बन्धन भी नहीं होते। अतः मानना पड़ता है कि अनादि संसार में आत्मा कर्म सहित है। तात्पर्य यह है कि मानव को अपने स्वभाव में आने के लिए इन अनादिकालीन कर्मों को जप, तप, संयम, व्रतादि के द्वारा नाश करना चाहिये।

१०६. जैसे कोई किसान खेती करने की प्रक्रिया को तो जानता है, परन्तु प्रमाद-वश यदि बीज नहीं बोता है तो धान्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसी प्रकार तपश्चरण की विधि को जानने वाला तत्त्वज्ञानी भी यदि तपश्चरण धारण नहीं करता है तो मुक्ति रूपी धान्य को प्राप्त नहीं कर सकता है।

१०७ जिसने नरतन को प्राप्त कर आत्म कल्याण के मार्ग को

स्वीकार नहीं किया उसने अक्षम्य भूल की अर्थात् अपनी आत्म वंचना की।

१०८. संसार में जीवन की सफलता भोगों की मात्रा पर निर्भर नहीं है। भोग जीवन का स्वार्थ पूर्ण और संकीर्ण मार्ग है। ऐसा जीवन उच्चत्तर आदर्श का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। क्योंकि सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य भी धीरे२ नष्ट हो जाते हैं। जब पुण्य का नाश होता है तब चक्रवर्ती की सम्पदा का भी नाश होते देर नहीं लगती, तो इन तुच्छ सम्पदाओं की तो बात ही क्या ? प्राप्त हुए भोगों को प्राणी भोग ही नहीं पाता है कि उसे संसार छोड़कर चला जाना पड़ता है। फलतः सांसारिक सुख, ऐश्वर्य और इन्द्रिय भोग क्षण भंगुर है। अतः मानव को भोगों को त्याग कर संयम को स्वीकार करना चाहिये।

१०९. वास्तव में इन्द्रिय दमन एक नौका है जिसके बल पर मानव राग-द्वेष रूपी लहरों से व्याप्त क्रोध कामादि नक्रचक्रों से भरे हुए अपार भव-सागर को पार कर सकता है।

११०. इन्द्रिय दमन एक परम पुरुषार्थ है जिसके कारण आत्मा संकल्प-विकल्प मय घाट को पार कर निज आत्मा में पहुंच जाता है। इतना ही नहीं इन्द्रिय-दमन एक नाग दमनी है जिसके उपयोग से विषय-वासना रूपी नागेन्द्र का विष उतर जाता है। सच तो यह है कि इन्द्रिय-दमन एक अग्नि है जिससे अनादि-बद्ध कर्म-कालिमा भस्म हो

जाती है। इन्द्रिय-दमन एक सुन्दर रथ है जिस पर बैठकर मानव निर्विघ्न मोक्षपुर में पहुंच जाता है।

१११. संसार में इन्द्रिय-दमन एक आश्चर्यकारी अमोघ वशीकरण मंत्र है जिससे मुक्ति रूपी परम-सुन्दरी वश में की जा सकती है। इन्द्रिय-दमन एक अगाध समुद्र है जिसमें शांति, सन्तोष, आदि महा रत्न पैदा होते हैं। वास्तव में इन्द्रियों का दास समस्त जगत् का दास है। इन्द्रियाधीन वृत्ति वाला मानव समय पर दानव का रूप धारण कर सकता है। जिसने इन्द्रियों को वश में किया उसने समस्त-जगत् को वश में किया।

११२. इन्द्रिय-लम्पटी लोग इसलोक और परलोक दोनों में दुःख का भाजन बनते हैं। एक एक इन्द्रिय के वश प्राणी महादुःख को प्राप्त होते हैं। जो मानव पांचों इन्द्रियों के वशीभूत हैं उनका तो कहना ही क्या ? इन्द्रियों के वश प्राणी अपना हेयोपादेय को भूल जाता है। कि कर्त्तव्य विमूढ होकर प्राण तक खो बैठता है।

११३. जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क से जल में खलबली (चंचलता) आ जाती है। उसी प्रकार हमारे भीतर व्याकुलता (उद्-बिग्नता) का संचार उत्पन्न करने वाली कषायों का आवेश है उसे शमन करने का प्रयत्न ही श्रेयस्कर एवं कल्याण-कारी है।

११४. अनादिकाल से चतुर्गति के चक्र में संचरण के कर्त्ता जीव

को यदि कोई मुक्ति का उपाय है तो वह है—सम्यग्-दर्शन-ज्ञान और चारित्र की एकता।

११५. कामेन्द्रियों के आवेश में यह प्राणी व्रत व संयम को दूषित या नष्ट कर देता है।

११६. ज्ञान प्राप्त होने का फल वैराग्य है। यदि वैराग्य नहीं तो सच्चा ज्ञान नहीं। ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य चारित्र धारण करना है।

११७. नीच कुल में जन्म लेने पर भी सम्यग्—दर्शन से सुशोभित जीव स्वर्ग में गये हैं। परन्तु उच्चकुल में जन्म लेकर भी सम्यक्त्व तथा शील संयम से रहित व्यक्ति नरक में गये हैं।

११८. संसार में चार साधनों का मिलना बहुत कठिन है। मनुष्य—त्व, धर्म श्रवण, श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ। अगर कर्मवशात् मिल जाएं और प्रमादवश आगे न बढ़ें तो समझलो पाप का तीव्र गति से उदय है।

११९. किसी व्यामोह में फंसकर चारित्र की मर्यादा का उल्लंघन करना महान् अनर्थकारी अपराध है।

१२०. अज्ञानवश किये हुए अपराधों को गुरु के सान्निध्य में पश्चाताप पूर्वक व्यक्त करना ही प्रायश्चित है और यह परिणति ही हमारी अधोगति से रक्षा करने वाली है।

१२१. जिस प्रकार मर्म स्थल पर लगा हुआ एक बाण ही मौत के लिए पर्याप्त है। पर निशाने से चूके हुए हजारों बाण

भी मृत्यु केन्द्र को स्पर्श नहीं कर सकते। उसी प्रकार एक आत्म स्वरूप ज्ञान, श्रद्धान, आचरण ही संसार रूपी शत्रु का संहार करने में समर्थ हो सकता है।

१२२. हजारों वर्षों का यश एक दिन के चारित्र पर निर्भर करता है। आचरण ही चारित्र है। संसार में सबसे दुर्बल व्यक्ति वह है जो अपने अवगुणों को छिपाता है।

१२३. जब तक हम अपने को नहीं जानते, तब तक हम दूसरों को कैसे जानेंगे ? विवेक के बिना सत्य का आचरण संभव नहीं।

१२४. अपनी क्षमतानुसार अल्प दिया हुआ दान भी हजार गुणा फलदायक होता है।

१२५. महापुरुषों में कतिपय ऐसे गुण होते हैं जो समस्त प्राणियों को प्रेरणा देते हैं और उन्हें महान् कार्य करने को प्रेरित करते हैं।

१२६. मानव का सच्चा धन संयम है। संयम से मानव धीर, गंभीर व निःशल्य बनता है। उस संयम को पाने के लिए बाह्य वस्तु की आवश्यकता नहीं। निज ज्ञान-सागर में गोता लगाओ और संयम रत्न प्राप्त करो।

१२७. संयम से आत्मबल बना रहता है। क्योंकि संयमी जीव निःशल्य होता है। संयम से आधि, व्याधि, उपाधि सर्व रोग मिटते हैं। चूंकि संयम से आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर हो जाती है।

१२८. मन, वचन, काय के प्रयत्न को रोककर आत्मा की सहज स्थिति का जो अनुभव होता है उसमें महान् आनन्द मिलता है। परन्तु जो इस आनन्द का अनुभव नहीं रखते हैं वे ही विषयों की सेवा में आनन्द की श्रद्धा करते हैं।

१२९. संसार में किसी को बुरा मत समझो। अपने ही कषाय भाव को बुरा समझो। उससे घृणा करो क्योंकि कषाय-भाव ही आत्महित में बाधक है।

१३०. अपने संयमरूपी धन को संभालो वरना विषय चारों ओर स्थित हैं न जाने कब इसका हरण कर लेंगे।

१३१. मानव की तृप्ति त्याग से होती है। त्याग के बिना आत्म शांति नहीं और आत्म शांति के बिना संतोष नहीं।

१३२. संसार में जितना दुःख है उतना अज्ञान से है। अज्ञानवश ही प्राणी अपने को गरीब, अमीर, मूर्ख, पंडित, रोगी–नीरोगी मानता है। जबकि यह दशा आत्मा की है ही नहीं।

१३३. पाप के कारण कषाय है। अतः कषाय ही पाप है। फिर इनके कार्य में हिंसादि जो प्रवृत्तियाँ हैं वे उपचार से पाप माने गये हैं। अतः हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचरण परिग्रह आदि पापों से बचने वालों को कषाय का परित्याग करना चाहिये।

१३४. जब आपके कषाय की तीव्रता हो तब आप चुप्पी साधलो।

क्योंकि उस समय के निकले वचन दूसरों के अहित और क्लेश के कारण होंगे जिससे आपको फिर पछताना पड़ेगा।

१३५. वस्तुतः चारों कषायों का अभाव छद्मस्थ के अगम्य है। अतः जितना हो सके उतना ही उसे मंद करते जाओ।

१३६. त्याग, व्रत और चरित्र धारण करके जो मनुष्य विषय कषायों में लीन होता है वह अधम निन्दनीय है। कायर है।

१३७. आवश्यकता से अधिक संग्रह मत करो। जीवन के लिए जो कम से कम परमावश्यक है उतने ही प्रयोजन रखो। अन्यथा चोरी का दोष लगेगा।

१३८. अपनी संकल्पित प्रतिज्ञाओं को निभाना ही गौरव की बात है और उनसे च्युत होना ही नीचता है।

१३९. जिस तरह मृग फांसी रूपी जाल में फंसा पड़ा है, विवश है। अन्य सहायक नहीं है। उसी तरह यह अज्ञानी आत्मा विषय-कषाय की फांसी में पड़ा हुआ है। यदि खुद ही अपने विज्ञान बल से विषय-कषायों से निकल जावे तो स्वतंत्र होकर सुखी हो सकता है।

१४०. जिसने मान का मर्दन कर दिया है वही सरल बन सकता है और वही बड़भागी वैयावृत्ति कर सकता है।

१४१. धर्मात्माओं की प्रवृत्ति प्राणीमात्र के हित में होती है। क्योंकि उन्हें संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य होने के

कारण उनमें माया प्रपञ्चादि नहीं रहते हैं।

१४२. सांसारिक वस्तुओं की चाह करना ही अज्ञान है। क्योंकि सर्व पर पदार्थ अपने से अलग हैं। फिर उनके संग्रहादि के अत्याग्रह से आत्मा का हित क्या है? वस्तुतः तो अमूर्त आत्मा को कौन पीड़ित कर सकता है? परन्तु अज्ञानी प्राणी पर पदार्थों का संग्रह करके दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

१४३. उन्हीं का जीवन सफल है जो जितेन्द्रिय और जितमोह बनने की कोशिश करते हैं।

१४४. आत्मा का हित सर्व ममत्व त्याग में है। ममत्व के त्याग में किसी प्रकार का क्लेश नहीं है। क्लेश तो ममत्व में ही है।

१४५. संसार में रुचि रखकर सुख चाहना विष खाकर जीवित रहने की कल्पना के बराबर है।

१४६. जब तक राग परिणाम है तब तक अपने को संसारी ही मानो। जब आपके हृदय में वीतरागता की झलक आवे तब समझो कि मैं संसार के किनारे पर हूं।

१४७. पर पदार्थों के निमित्त होने वाले राग द्वेष को न होने देना आत्मोन्नति का कारण है अर्थात् विशाल तप है।

१४८. यहाँ अपना बनाकर कुछ भी रख जाओ। मरने के बाद अपना कुछ नहीं। अतः विवेक से काम लो। संग्रह बुद्धि छोड़कर अपना आत्माहित चिंतवन करो।

१४९. पर पदार्थ कभी भी अपने नहीं हो सकते। अपने उपयोग

में उन्हें कभी स्थान मत देवो। जिन पदार्थों का संयोग हुआ है वे ही देखते २ वियुक्त हो जायेंगे। फिर क्यों न आत्म शांति हित अपनी परिणति में आओ।

१५०. आज तक आशा तृष्णा के कारण न जाने कितने पाप इस आत्मा ने अर्जन किये हैं। न जाने कब तक अपनी परिणति को नहीं संभालेगा? अब भी समय रहते यदि आशा तृष्णा पर विजय प्राप्त करलो तो अनन्त सुख के स्वामी बन सकते हो।

१५१. तृष्णा की जननी आकुलता जब तक रहेगी तब तक आशा रूपी पुत्र पैदा होते ही रहेंगे।

१५२. जो विषयों के गुलाम हैं। वे वास्तव में सभी के गुलाम हैं। अगर इस गुलामी की बेड़ी को काटना चाहते हो तो विषय-कषायों का व्यामोह छोड़ो।

१५३. पर-पदार्थों से न तो तुम्हें लाभ है और ना ही हानि। पर परिणति से किंचित् भी हर्ष विषाद मत करो। धैर्य से काम लेवो और समझो कि पर पदार्थ तुम्हारे कैसे हो सकते हैं? अगर उन पर बलात् स्वत्व करोगे तो दुःखी ही बनोगे।

१५४. ध्यान, अध्ययन और विनय सज्जनों की उन्नति के मूल हैं और यही सच्चा जीवन बनाने की त्रिपुटी है।

१५५. अच्छाई का मूल सच्चाई है। चाहे आक्षेप हो, विपत्ति हो, फिर भी हर बात में सच्चाई ही श्रेष्ठ है। नियमतः सत्य

की ही विजय होगी। हाँ देर हो सकती है मगर अंधेर नहीं।

१५६. संसार में कोई किसी का नहीं है ऐसा कहने वाले तो बहुत मिलेंगे। परन्तु किसी को अपना न समझकर अपने को अपना समझने वाले बिरले ही मिलेंगे।

१५७. वास्तव में हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और तृष्णा ये सब अनर्थ के मूल हैं। जिसने इनका परहेज किया वे ही महान् बन गये। जिन्होंने इनको अपनाया वे संसार-सागर में भटकते रहे।

१५८. सांसारिक भोगों की इच्छा रहना अशुभ परिणाम है। यह पुण्य का बाधक और अनन्त संसार का कारण है।

१५९. भोगों की इच्छा रोग है और उस रोग की दवा भोग है। यदि इच्छा पैदा ही न होने दें तो भोग रूपी दवा की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

१६०. संसार में कोई भी पदार्थ न तो स्वयं में इष्ट है और न अनिष्ट। मात्र प्राणियों की इच्छा की ही सारी करतूत है। सारांश यह है कि जब इच्छा से तुम्हारा बिगाड़ होता है तो क्यों न इन्हें छोड़ने का प्रयत्न करो।

१६१. तृष्णा करके अपनी आत्मा का ही अहित करना है। क्योंकि आशा-तृष्णा करने से क्या मिलेगा? मिलेगा तो वही जो तुमने पूर्व में पुण्य किया है।

१६२. यह आत्मा अज्ञानवश अनादिकाल से तृष्णा करता आ रहा

है और जन्म-मरण रूपी घाणी में पिसता आ रहा है। अब भी उसी प्रवाह में डूबता जा रहा है। यदि अपना भला चाहते हो तो इस तृष्णा को छोड़ दो।

१६३. मानव का धन संयम है। संयम से ही मानव, धीर, गंभीर और निःशल्य बनता है अर्थात् संयम से ही मानव महा मानव बनता है।

१६४. रागादि से दूर रहकर आत्मा में संयमित रहना संयम है। जब तक संयम न हो तब तक मन पर काबू पाना उतना ही कठिन है जितना बालू से तेल निकालना।

१६५. सब व्रतों का मूल इन्द्रिय संयम है। जिनकी इन्द्रियाँ वश में नहीं उनका मन कैसे वश में हो सकता है?

१६६. व्रत में अनादर होना ही व्रत का घात है। अतः व्रत का आदर करो और दृढ चित्त होकर उसकी आराधना करो।

१६७. संसार के सब पदार्थ मेरे से पृथक हैं। उनसे मेरा जो राग भाव है वही मेरे पतन का कारण है। मेरा हित तो मेरे ही अधीन है।

१६८. संसार में प्राणी मात्र चाहता है कि मैं सुखी हो जाऊं परन्तु सचमुच में सुखी होने का मार्ग शायद कोई बिरला ही प्राणी जानता है।

१६९. दूसरों के दोष देखते समय कम से कम अपने भी दोष देखने की आदत डालो तो आपको दूसरों के दोष नहीं दिखेंगे।

१७०. मोही प्राणी शरीर की विषमता से आकुल होकर शरीर की

चिंता करता है। जबकि निर्मोही इस शरीर को अपना न जानकर वस्तु स्वरूप पर विचार करता है।

१७१. मोही प्राणी शरीर का पोषण करता रहता है, परन्तु आत्मदर्शी आत्म गुणों को ही पुष्ट करता है।

१७२. मोही प्राणी परिग्रह संचय में अपना समय पूरा करता है, किन्तु आत्म हितैषी अपना समय आत्म चिंतवन में या भगवद् भक्ति में लगाता है।

१७३. कल्याण पथ का पथिक वही जीव हो सकता है जिसे संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति हो गई है।

१७४. वास्तव में कल्याण मार्ग के दो रोड़े हैं (१) अन्याय से उपार्जित धन और (२) इन्द्रिय विषय। यदि इन दोनों रोड़ों को मानव कल्याण मार्ग से हटादे तो फिर कल्याणमार्ग प्रशस्त ही समझो।

१७५. प्राय: सभी कहते हैं कि राग-द्वेष दुःखप्रद हैं, तो क्या ऐसा कहने मात्र से ये छूट जायेंगे? यदि नहीं तो इनको हृदय से छोड़ने का सतत प्रयत्न करो।

१७६. श्रद्धा के साथ २ चरित्र का होना आवश्यक है नहीं तो श्रद्धा अश्रद्धा बनने का खतरा है।

१७७. विषयों से निवृत्ति और तत्त्वज्ञान के निरन्तर भावना कुछ काल में संसार लता का मूलोच्छेदन कर देती है।

१७८. रात दिन कषायों की प्रचुरता से प्राणी आत्मस्वरूप से च्युत हो जाता है और संसार की यातनाओं का सामना

करता रहता है।

१७९. धर्म की रक्षा करने में जो तत्पर रहते हैं उनकी रक्षा स्वयमेव हो जाती है और वे ही सच्चे धर्मात्मा कहलाते हैं।

१८०. ज्ञान का फल वैराग्य है और ज्ञान का उपयोग रागादि के निवृत्ति अर्थ है। जैसे भोजन का उपयोग क्षुधा निवृत्ति के लिए है।

१८१. आत्म स्वभाव में जो चर्या है उसी का नाम चरित्र है। बाह्य व्रतों का उपयोग चरित्र के लिए ही है। यदि व्रतों को न पाला जाए तो फिर जैसा व्रती वैसा ही अव्रती।

१८२. व्रत का फल तो वास्तव में चारित्र है। व्रतों के पालन से आत्मा को पूर्ण शांति का लाभ मिलता है।

१८३. वास्तव में मानव पर्याय की सफलता संयम में है। देव पर्याय से मानव पर्याय की उत्तमता इसी संयम की प्रधानता से है।

१८४. संसार के प्राणी इतने भीरु और कायर हो गये हैं कि व्रतों का नाम सुनते ही चौंकते हैं। वास्तव में ये व्यर्थ ही डरते हैं। गृहस्थी भी संयम का पात्र है। देश संयम भी तो संयम ही है। और मानव जन्म की शोभा संयम से ही है।

१८५. कल्याण का प्रमुख साधन संयम का पालन करना है। ज्ञान का साधन प्रायः बहुत स्थानों पर मिल सकता है। परन्तु

चारित्र का साधन प्रायः दुर्लभ है।

१८६. चारित्र के बिना मुक्ति नहीं और मुक्ति बिना सुख नहीं। यदि आगम ज्ञान है और संयम भाव से रिक्त है, तो उससे क्या लाभ।

१८७. असंयमी मानव का कल्याण होना असंभव है। क्योंकि संयम के अभाव में परिणामों को विशुद्धता हो ही नहीं सकती।

१८८. शुभोपयोगिनी क्रिया पुण्य वर्द्धिनी है और परम्परा से मोक्ष का कारण है। अतः जिन्हें आत्महित करना है। उन्हें व्रत नियमादि ग्रहण करके अपनी प्रवृत्ति निर्मल करनी होगी, अन्यथा संसार का अन्त नहीं।

१८९. श्रद्धा और ज्ञान के साथ २ चरित्र गुण की उद्भूति हो तभी शांति का रसास्वदन किया जा सकता है।

१९०. कषायों को कृश करने के लिए इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग में धीरता होना मुख्य कारण है।

१९१. चारित्र का फल राग-द्वेष की निवृत्ति है जो कि कषायों की निवृत्ति रूप है।

१९२. केवल पदार्थ का निरूपण करने मात्र से प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है। रागादि निवृत्ति के अर्थ चरणानुयोग है।

१९३. वास्तव में वही ज्ञान प्रशंसनीय है जो चरित्र से युक्त है। अतः आचार्यों ने कहा है कि चारित्र ही साक्षात् मोक्ष मार्ग

है। उपयोग की निर्मलता ही चरित्र है।

१९४. समीचीन चारित्र संसार-सागर से पार करने की नौका के समान है। कषाय रूपी लता को दग्ध करने के लिए दावानल है।

१९५. साम्यभाव ही परम तप है। कषाय निग्रह का मूल कारण है, ध्यान का मुख्य अंग है और भेद ज्ञान के लिए रामबाण दवा है। विषयों में अरुचि कराने के लिए अच्छा साधन है।

२९६. सभ्यता और असभ्यता विद्या से नहीं जानी जाती। चाहे हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत का पाठी क्यों न हो? वास्तव में सदाचारी ही सभ्य और दुराचारी ही असभ्य है।

१९७. बड़े २ आचार्यों का उपदेश तथा सभी आगमों का मूल सिद्धान्त एक मात्र सदाचार पूर्वक रहना सिखाता है। प्राणी को निरन्तर सदाचार की रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि सदाचार ही जीवन है।

१९८. मानवों को उचित है कि संयम एवं शांति से रहे तथा अन्य प्राणियों को कष्ट न पहुंचाये। इससे ही अपने जीवन को सार्थक बनाये।

१९९. वास्तव में पंचेन्द्रियों के विषय से चित्तवृत्ति को हटा लेना तथा जीवों की रक्षा करना ही संयम है। यदि इस ओर मानवों का लक्ष्य हो जावे तो कल्याण हो जावे।

२००. गृहस्थी को दैनिक देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, संयम,

तप और दानादि शुभ कार्यों में उपयोग लगाना चाहिये।

२०१. यदि प्राणी अपने पवित्र हृदय से कषाय की वासना मिटा देवे तो संसार-सागर का किनारा आ गया समझो।

२०२. व्रतों की अवहेलना करके अविरत अवस्था में वीतराग भावों की शांति को अनुभव करने का प्रयत्न शशश्रृंग के तुल्य है।

२०३. अपनी परिणति को अशुभोपयोग की कलुषता से रक्षित रखा जाए। अतः देवपूजा, शास्त्र-स्वाध्यायादि षट्कर्मों को साधा जाय।

२०४. पंचेन्द्रियजन्म विषय भोगों के लिए हमारा पुरुषार्थ, पुरुषार्थ नहीं। वह मात्र कर्म बन्धन का कारण है। सच्चा पुरुषार्थ तो वह है जिससे राग-द्वेष की निवृति होवे।

२०५. व्रती वही है जो शल्य रहित हो। आचार्यों का यही कहना इतना गंभीर अर्थ रखता है कि वचना गोचर है। व्रत को ग्रहण करना तो आसान है परन्तु शल्य को छोड़ना कठिन है। जिन्होंने शल्य छोड़ दिया वास्तव में वे ही व्रती है।

२०६. जिस त्याग के करने पर भी शांति का आस्वाद नहीं आता वहां यही अनुमान होता है कि वह अन्तरंग त्याग नहीं है।

२०७. वास्तव में सच्चा त्याग तो तप है। जब आवश्यकताएं कम हो जावे तथा त्याग में आनन्द आने लगे।

२०८. त्याग का महत्त्व तभी है जब प्राणी के लोभ-कषाय की कमी हो जाए। यदि कोई त्यागी होकर भी संचय करते हैं तो

वे अपनी आत्म वंचना करते हैं।

२०९. बाह्य त्याग की महिमा तभी है जब अन्तरंग परिणामों में निर्मलता आवे। अन्यथा उपरी त्याग से आत्मतत्व प्राप्त होना असंभव है।

२१०. जिन्होंने त्याग धर्म को तो स्वीकार कर लिया परन्तु व्यक्त सामग्री की ओर से लक्ष्य नहीं हटाया तो उस त्याग से क्या लाभ उठाया ?

२११. आचार्यों ने त्याग धर्म का उपदेश दिया है और त्याग से ही सुखोत्पत्ति का कारण बताया है। वास्तव में धर्म तो त्याग प्रधान है। अतः त्याग के बिना संसार से छुटकारा नहीं।

२१२. जिनको त्याग धर्म में आनन्द आता है वे परिग्रह पिशाच के जाल में कैसे फंस सकते हैं ?

२१३. क्षमा के अभाव में बड़े २ आदमी भी बरबाद हो जाते हैं। क्रोध के अभाव में पामर से पामर आदमी भी आबाद हो जाते हैं।

२१४. क्रोध से आत्मा के संयम गुण का घात होता है। क्रोध के अभाव में प्रकट होने वाला क्षमा गुण ही संयम है।

२१५. क्रोध आत्मा का स्वभाव न होकर विभाव है। बाह्य निमित्त मिलने पर कुछ समय के लिए तिरोहित हो जाता है। जैसे- अग्नि का संसर्ग पाकर जल उष्ण हो जाता है। परन्तु वह जल का स्वभाव नहीं है। वस्तुतः जल का स्वभाव तो शीतल ही है।

२१६. क्रोध के कारण आदमी अपने स्वरूप को भूल जाता है। और पागल सा हो जाता है। वस्तु की यथार्थता उसकी दृष्टि से लुप्त हो जाती है, यद्वा तद्वा प्रवृत्ति करने लग जाता है। अतः क्रोधाग्नि को शांत करने के लिए क्षमा रूपी जल का उपयोग करो।

२१७. क्रोधरूपी ज्वाला को शांत करने के लिए क्षमा-सलिल की आवश्यकता है। क्रोध शांत होने पर अपूर्व कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। मोक्ष मार्ग में प्रवेश करना ही अपूर्व कार्य है। शांति के समय यह अपूर्व कार्य सहज में ही सम्पन्न हो जाते हैं।

२१८. यदि क्षमा गुण के सद्भाव में पुरुषार्थ किया जावे तो अनादि-काल के बंधन खुल जाते हैं और अनन्त सुख की प्राप्ति होने लगती है।

२१६. क्रोध कषाय के सद्भाव में आत्मा के प्रदेशों में दुःख हो जाता है। जैसे वातरोग में प्राणी का अंग प्रत्यग दुःखने लग जाता है। अतः प्राणियों का कर्त्तव्य है, क्षमारूपी अमृत पीकर अपने स्वरूप का अवलोकन करें।

२२०. सदाचार और दुराचार की प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का निर्णय यदि मानव को हो जाए तो उसके संसार में रहते हुए भी स्वर्गीय सौख्य सदन का सुख-समृद्धि और शांति प्राप्त होने में कोई संशय नहीं है।

२२१ पंचेन्द्रियों में रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते

तो समझो किसी भी इन्द्रिय पर विजय नहीं प्राप्त कर सकते।

२२२. रसनेन्द्रिय पर नियन्त्रण रखना संयम है। संयम के बिना संसार-सागर से पार होना प्रायः दुर्लभ है।

२२३. जो प्राणी इन्द्रियों की दासता से मुक्त हो गये वे ही इस संसार में महान् बन गये।

२२४. वास्तव में अनर्थों का प्रधान उत्पादक तो परिग्रह है। अतः इसके लिए उदाहरण की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह किसी से भी छिपा नहीं है। आवश्यकता उससे विरक्त होने की है।

२२५. परिग्रह की लिप्सा से हमारी आज जो दशा हो रही है वह किसी से अज्ञात नहीं है। ममता की प्रबलता में मानव कुछ न होते हुए भी कर्म बांधते रहते हैं।

२२६. मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि संसार में अनर्थों और अत्याचारों की जड़ परिग्रह ही है। प्रत्यक्ष में देखो जिन घरों में इसका बाहुल्य है, उनकी संतान प्रायः धर्म विहीन होकर पतन की ओर बढ़ रही है।

२२७. वस्तुतः परिग्रह ही संसार है। मुक्ति का मूल तो परिग्रह का अभाव है। परिग्रह धर्म का साधक न होकर बाधक ही है। अतःएव परिग्रह की कमी में ही स्वात्मा की प्राप्ति हो सकती है।

२२८. इस दुःखमय संसार से वे ही सज्जन निकल सकते हैं।

जिन्होंने परिग्रह-पिशाच को मार भगाया हो। वस्तुतः संसार तो दुःख का घर है। आत्मा के लिए नाना प्रकार की यातनाओं से युक्त कारावास है।

२२९. यदि कोई परिग्रह के सद्भाव में कहे कि मेरे को तो इनमें मोह नहीं है तो भाई! यह असंभव है।

२३०. याद रखो! परिग्रह में यदि ज्यादा आसक्ति है तो मरते समय यह सम्पत्ति संक्लेश का कारण बनकर नियम से अधोगति की ओर ले जायेगी तथा यह आडम्बर यों ही पड़ा रह जायेगा।

२३१. वास्तव में पर वस्तुओं का विकल्प ही संसार है तथा उनसे छूटना ही मोक्ष है।

२३२. जो प्राणी पर-पदार्थों के संसर्ग से अपने को सुखी बनाने की सोचता है, वह मानो आकाश के फूलों से पुष्पाहार बनाना चाहता है।

२३३. पर वस्तुओं का संसर्ग एक संक्रात्मक रोग है। इसकी ज्यों २ दवा करोगे त्यों २ बढ़ता ही जायेगा।

२३४. वस्तु संग्रह रूपी ईंधन ज्यों २ तृष्णा रूपी आग में डालोगे त्यों २ यह आग तीव्र तर होती जायेगी।

२३५. आत्म संयम के अतिरिक्त संसार में विकल्पों की अन्य कोई औषधि नहीं है।

२३६. शास्त्र स्वाध्याय का फल भेद ज्ञान है। उसी तरह व्रतादि क्रियाओं का फल निवृंत्ति है।

२३७. जिस ज्ञान से वैराग्य की प्राप्ति नहीं हुई वह मात्र ज्ञानाभ्यास है। उसी तरह जिस चरित्र से आत्म जागृति नहीं हुई वह चरित्र चारित्राभास मात्र है।

२३८. सबसे पहिले तीव्र कषायों को शमन करके अपने आत्मीय गुणों की रक्षा करना आवश्यक है। वास्तव में वे ही मानव धन्य हैं जिन्होंने अनेक प्रकार के विरुद्ध कारणों के समागम होने पर भी अपने आत्म भावों को अशुचिता से रक्षित रखा हो।

२३९. अपने परिणामों में सांसारिक विषयों से उदासीनता लाने की कोशिश करते रहो। यही विरक्ति होने का मार्ग है।

२४०. इस असार संसार में कोई किसी का नहीं। व्यक्ति अकेला ही जन्मता है और मरता है। यह व्यवस्था शाश्वत है तो फिर हम किस आधार पर परिवार, धन, वैभवादि को अपना मान रहे हैं ? यही तो हमारा अज्ञान है। जो बन्धन का कारण है।

२४१. यदि आप व्रतोपावासों के द्वारा सर्वथा शरीर को ही कृश करते रहे और कषायों को कृश न किया तो क्या लाभ ? यदि प्राणी काय और कषाय दोनों को कृश करने की कोशिश करें तो सोने में सुगन्धी हो गई समझो।

२४२. पापोदय काल में रक्षा के लिए, धन संचय की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता तो संयम भाव द्वारा आत्मरक्षा की है।

२४३. यदि कोई शिक्षा प्रद बात कहे तो मानो और अपनी गलतियों को सुधारने की कोशिश करो।

२४४. वास्तव में जब तक परिग्रह की कृशला नहीं तब तक लोगों को दिखाऊ व्रतों से कल्याण नहीं हो सकता है। क्योंकि अनर्थ की परम्परा तो परिग्रहों में आसक्ति है।

२४५. विचार पूर्वक किया हुआ काम पश्चाताप का कारण नहीं बनता है। प्रत्येक कार्य में भविष्य देखो। मात्र वर्तमान परिणाम के आधार पर कोई कार्य मत करो। नहीं तो भविष्य में पछताना पड़ेगा।

२४६. यदि कोई आत्महित में प्रवृत्ति करे तो संसार की अनेक यातनाओं से अनायास ही मुक्ति मिल सकती है।

२४७. अपने लिए हुए व्रतों का अनादर करना आत्मघात का प्रथम चिन्ह है। वास्तव में व्रत तो तब तक है जब तक उसका आदर भाव है।

२४८. जो प्राणी पर वस्तुओं में निजत्व मानते हैं वे संसार के ही पात्र हैं और उसमें नाना प्रकार की यातनाएं भोगते हैं।

२४९. जब तक वासनाओं का दमन नहीं हो जाता तब तक परिग्रह पिशाच से छुटकारा मिलना कठिन है।

२५०. वास्तव में मिथ्या ज्ञान होने से पर में ही जोवों की प्रवृत्ति होती है। इसी का नाम मिथ्या चारित्र है। मिथ्या दर्शन के कारण ही पर में स्व की कल्पना होती है और उसी में प्रवृत्ति होती है।

२५१. चारों ही गतियों में संसार का नाशक सम्यग् दर्शन हो सकता है। परन्तु संयम का सद्भाव तो मानव जन्म में ही संभव है। हाँ, तिर्यंग्गति में देश संयम होता है, परन्तु सकल संयम तो मात्र मानव योनि में ही होता है। सकल संयम के बिना संसार से मुक्त होना असंभव है।

२५२. धर्म का मूल कारण रागादि की न्यूनता है और रागदि की न्यूनता पंचेन्द्रिय विषयों के त्याग से होती है।

२५३. निर्भय होकर रहो। किसी के प्रभाव, दबाव या बहकाव में आकर झूठ मत बोलो। हमेशा सत्य बोलो।

२५४. सदाचार की धार्मिकता, नीतिमत्ता, बुद्धिमता और आत्म दृढ़ता ये चार कसौटियाँ हैं।

२५५. मनुष्य जीवन की शोभा शील और संयम से होती है; इनके बिना मानव अनन्त वैभवशाली आत्मा का दर्शन नहीं कर सकता।

२५६. पर पदार्थों से राग द्वेष हटाये बिना आत्म-सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं, अतएव रागद्वेष रूप विकारों को छोड़ो।

२५७. भोगों में आशक्त होकर मानो रोगों को बढाना है; अगर स्वस्थ बनना चाहते हो तो भोगों से अपना मुंह मोड़लो।

२५८. पाप का बाप लोभ है और लोभ का बाप परिग्रह है, परिग्रह होने पर कुविचार हो जाते हैं अर्थात् परिग्रहो कुभावों का संग्रह करना ही अपना घात करना है।

२५९. समता सुधापान के लिये क्षेत्र, काल, साधन, अर्थ की क्यों चिन्ता करते हो? जहाँ बैठे हो वहीं अपने स्वभाव को देखो।

।। ॐ वीतरागाय नमः ।

सच्चा सुख और शान्ति

१. संसार में सम्यग्दर्शन मुक्ति रूपी सुन्दरी के मुख का अवलोकन करने के लिए दर्पण तुल्य है। सम्यग्ज्ञान संसार समुद्र में डूबते हुए प्राणियों को निकालने के लिए हस्तावलम्ब के समान है। सम्यक्-चरित्र काम, क्रोध एवं भोग रूपी अप्रशस्त राग के अंगारों में तप्तायमान प्राणियों के संताप को नाश करने के लिए घनघोर मेघ के समान है।

२. संसार में यह वीतराग प्रणीत आत्म धर्म ही कल्प वृक्ष है, यही चिन्तामणि है, तथा संसार रोग नाशक औषधि है, यही कामधेनु है, और जीव का परम मित्र है ज्यादा कहाँ तक कहें यही यमरूपी सिंह के मुख से बचाने के लिए अष्टापद है। मुक्ति नगर में पहुंचाने के लिए सुन्दर मोटर-कार है अर्थात् मिथ्यात्व रूपी घोर अंधकार को नाश करने के लिये साक्षात् सूर्य के समान है।

३. वास्तव में आत्म कल्याण का घातक शरीर का ममत्व है, अतः शरीर ममत्व का त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

४. संसार में सम्यग्दर्शन एक दृढ़ कवच है, जिससे मिथ्यात्व के बाणों से सुरक्षित रहा जाता है, तथा सम्यग्ज्ञान एक शिक्षित हाथी है जिस पर चढकर मोह रूपी शत्रु का सामना किया जा सकता है।

५. प्राणियों के पीछे यमराज (मृत्यु) लगा हुआ है जो अत्यन्त विकराल है अर्थात् सभी प्राणियों को अपना ग्रास बना रहा है। उसके मुख से बचाने के लिए करोड़ो सुभट तथा मंत्र जत्र भी समर्थ नहीं हैं। जैसे समुद्र के मध्य डूबती हुई नौका पर बैठे हुए पक्षी का कोई शरण दाता नहीं।

६. मानव अगर चाहे तो संयम रूपी जल से पूरित सत्य रूपी प्रवाह से युक्त आत्मानुभव नदी में अवगाहन करे, तो मानसिक शोक संताप दूर हो सकते हैं। अतः संसार ताप दूर करके परमानन्द का भोक्ता बनना चाहिये।

७. हे आत्मन् ! तू सुख की खोज में न जाने कब से कहाँ कहाँ भटक रहा है। परन्तु सुख का भण्डार तो तेरे ही अन्दर मौजूद है। जिसको तू ने आज तक देखा ही नहीं। वास्तव में तेरा स्वभाव तो अनन्त सुखमय है, जबकि पर वस्तुओं में सुख का अंश भी नहीं है।

८. धनाभिलाषा सच पूछो तो अग्नि की ज्वाला है जो कि धन रूपी ईंधन से शान्त नहीं होती। अज्ञानी प्राणी इस धना-भिलाषा रूपी अग्नि में धन रूपी ईंधन डालकर अपनी इच्छा रूपी अग्नि को शान्त करना चाहता है। परन्तु ज्यों

ज्यों धन रूपी ईंधन को डालता है त्यों-त्यों इच्छा रूपी आग बढ़ती ही जाती है।

९. संसार में प्राणियों के स्त्री का ममत्व लोहे की बेड़ी के समान है जो जीवों को संसार रूपी कारागृह में रोककर रखता है तथा जिसके खुले बिना स्वाधीनता के सुख का अनुभव हो ही नहीं सकता।

१०. इस परिर्वतन शील संसार में प्रत्येक प्राणी सांसारिक दुःखों से आकुल-व्याकुल होकर तिलमिला रहा है। सुख की इच्छा से आतुर होकर दुःख रूपी अथाह भव-सागर को पार करने के लिए प्रयत्न करता है। परन्तु अनादिकालीन अज्ञानता के कारण उसके सब प्रयत्न संसार के नाश का कारण न होकर उसके निबिड बन्धन के कारण बनते हैं। जैसे-जैसे अज्ञानी अपनी चेष्टा करता है, वैसे-वैसे संसार के बन्धनों से बन्ध जाता है।

११. अज्ञानवश प्राणी सांसारिक दुःखों को दूर करने के लिए भौतिक पदार्थों का संग्रह करता है। दिन-रात उसी में जुटा रहता है, उन्हीं के संग्रह में आनन्द उठाता है और यह समझता है कि सांसारिक भोग सुख कारक हैं। परन्तु सांसारिक पदार्थ सुख के कारण नहीं हैं, ऐसा धर्म शास्त्रों में सुनता भी है, परन्तु खेद है कि मानव अज्ञानता के कारण पुनः २ इन्द्रियानुराग के वशीभूत होकर उन्हीं पदार्थों को अपना मानता है तथा ममता के कारण हेयोपादेय

को भूलकर संसार में परिभ्रमण करता रहता है। यह सब अज्ञान का फल है।

१२. आचार्य करुणा करके ऐसा समझते हैं कि हे मोही प्राणी तू एक बार ही अपने अज्ञान को छोड़कर भगवद् वाणी पर श्रद्धान कर ले। अपने आपको जानकर पर पदार्थों से ममत्व हटाले, यही तेरा आत्मोन्नति का मार्ग है।

१३. सुखार्थी जीवों को रातदिन संसार की असारता का चिन्तवन करना चाहिये। स्वप्न में भी अपने विचारों को दूषित नहीं करना चाहिये।

१४. वास्तव में देखा जाए तो काम के समान कोई व्याधि नहीं है, मोह के समान कोई शत्रु नहीं है, क्रोध के समान कोई अग्नि नहीं है और ज्ञान के समान कोई-सुख नहीं है। जो प्राणी भली प्रकार इन बातों को ह्यदयगंम करता है वह भव ताप से संतप्त नहीं होता है। अर्थात् अपनी अनन्त शक्ति–शाली आत्मा के स्वभाव में रत रहता है।

१५. कषाय रूपी विष क्षमारूपी अमृत को दूषित कर देता है। तथा कषायरूपी विषमग्रह प्राणियों को स्थिर नहीं रहने देता है। अतः इस कषायरूपी अग्नि को शान्त करने के लिए मानवों को आत्म ध्यान रूपी जल का सिंचन करना चाहिये।

१६. संसार रूपी आताप से तप्तायमान प्राणी के लिए परमात्मा

का ध्यान शीतल वृक्ष की छाया के समान है तथा कषाय रूपी दाह को दूर करने   लिए उत्तम सरोवर है।

१७. विषयभिलाषा रूपी अग्नि की दाह से मूर्च्छित मन ध्यान रूपी अमृत के सिंचन से शान्त हो जाता है। अन्यथा विषय वासनाओं के लोलुपी प्राणी नरक में जाकर घोर दुःख उठाते रहते हैं।

१८. मानवों को कदाचित् पुण्योदय के लाभ से अनुकूल सामग्री प्राप्त भी हो जावे तो भी शान्ति नहीं मिलती। क्योंकि इच्छा की ज्वाला में ज्यों २ परिग्रह रूपी अग्नि डालोगे त्यों त्यों तृष्णा रूपी आग बढ़ती ही जायेगी।

१९. वास्तव में प्राणियों का सच्चा हितैषी धर्म है। धर्म वही है, जिससे प्राणी मात्र का उद्धार हो। इस धर्म की शुरुआत त्याग से होती है। अतः मनुष्य को त्याग धर्म अपनाकर आत्महित के लिए उद्यम करना चाहिये।

२०. अज्ञान और अविद्या के वश प्राणी सुख को बाहरी वस्तुओं में खोजता है; लेकिन वह यह नहीं जानता कि आत्मा स्वयं सुखरूप है। वास्तव में सुख बाहरी वस्तुओं से प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

२१. जब तक मानव ज्ञान की आराधना के द्वारा अपने को नहीं पहचानता तब तक यह आत्मा अधिकाधिक आकुल-व्याकुल होती ही रहेगी।

२२. मानव चाहे तो अपनी परिणति को सुधारकर अपने

अभीक्षण ज्ञानोपयोग तथा ध्यानाग्नि से अनादिकालीन कर्मों का क्षय कर सकता है और अनन्त सुख को प्राप्त कर सकता है।

२३. मानव भौतिक पदार्थों की संग्रह वृत्ति की दौड़ में रात दिन दौड़ता रहता है और निरन्तर आकुलता का अनुभव भी करता है; परन्तु खेद है कि असार संसार की नश्वरता और मृत्यु की अनिवार्यता का अवलोकन नहीं करता है।

२४. सम्यग् ज्ञान से मानव में विवेक उत्पन्न होता है अर्थात् सम्यग् ज्ञान से ही आत्मा जड़ पदार्थों से रुचि हटाकर आत्म-तत्व में रुचि करता है।

२५. धर्म से शान्ति और आत्मसुख की प्राप्ति होती है। धर्मात्मा प्राणी सभी अन्य जीवों पर प्रेमभाव रखते हैं। वास्तव में धर्मात्मा स्वयं कष्ट सह लेता है पर दूसरों को पीड़ा नहीं पहुंचाता।

२६. अनादिकाल से क्रोधादि कषाय रूपी शत्रुओं से हमारी शान्तरस की सागर आत्मा पीड़ित है। अगर हम इन कषायों को बुरा समझकर छोड़ने का प्रयत्न करें तो हमारी आत्मा में अपने ही अन्दर जो अनन्त शक्ति और सुख भरा पड़ा है, उसका रसा स्वाद ले सकता है।

२७. यदि हम आत्म दृष्टि से देखें तो क्षमा हमारा अनन्त वैभवशाली आत्मा का अद्वितीय और अक्षय गुण है।

अपने जीवन में हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं कि अपने छोटे मोटे अपराध के लिए यदि हम हृदय से क्षमा करते हैं तो तीव्र रोष का वातावरण भी स्नेहपूर्ण बन जाता है।

२८. प्रत्येक आत्मा में सुख मौजूद है। सुख के लिए पर पदार्थों का संग्रहादि करना दुःखों को बुलाना है अतः वस्तु स्वरूप को समझकर अपने शाश्वत सुख में ही मग्न रहो।

२९. जब तक प्राणियों की आकांक्षायें जीर्ण नहीं होती तब तक सच्चे सुख का आभास भी संभव नहीं।

३०. शाश्वत सुख और शान्ति के लिए हमारा कर्त्तव्य है कि हम मिथ्या मान्यता को छोड़कर अपने ज्ञान को समीचीन बनावें।

३१. हम प्रायः दूसरों के दोषों को देखते रहते हैं परन्तु हमें अपने दोषों को देखने की फुर्सत ही नहीं मिलती। यदि हम अपने दोषों को देखकर उन्हें छोड़ने की कोशिश करें तो हमारा जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा हो जावे।

३२. संसार में स्वयं ही यह आत्मा भूल के कारण इन जड़ कर्म परमाणुओं को अपने सम्पूर्ण प्रदेशों से बांध लेता है। जैसे गर्म लोहे का गोला जल में डुबोने पर चारों ओर से शीतल जल को अपनी ओर खींच लेता है।

३३. वास्तव में मन, वचन और काय के परिस्पन्दन पर पूर्ण

नियन्त्रण होने से ही कर्मों का आश्रव रुक जाता है। इस अलौकिक दशा को प्राप्त होते ही आत्मा को निजी निधियां प्रकट होती हैं और दुखों से छुटकारा होता जाता है।

३४. मानव इन्द्रिय जनित सुखों की खोज में भ्रमवश अनादिकाल से मृग तृष्णावत् संसार में भटकता आ रहा है। वास्तव में आत्मा स्वयं सुख रूप है, परन्तु अज्ञान के कारण आत्मा इस संसार में भटकी हुई है।

३५. प्राणी अपने ही मन, वचन और काय से आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध करता है फिर दीर्घकाल तक उसका फल भोगता रहता है।

३६. जिस दिन प्राणी संसार के भंयकर दुःखों से भयभीत होकर वीतराग भाव से कषाय रूपी आततायियों का निग्रह करेगा; उसी समय आत्मा अनन्त सुख का अभ्यास करेगी।

३७. संसार के प्राणी रात दिन दुःखों का अनुभव करते हैं। प्रत्येक प्राणी किसी न किसी कारण दुःखी है। धनवान् तृष्णावश दुःखी है तो गरीब अभाव के कारण दुःखी है। कोई शारीरिक दुःखों से दुःखी है। इस प्रकार संसार दुःखमय जानकर भगवद् भक्ति में आस्था रखो और आत्मा में लीन रहो।

३८. अपने हित में प्रमाद न करते हुए धर्म सहित अपना जीवन व्यतीत करो। दुनिया में तो चारों ओर दुःख ही दुःख हैं।

यथार्थ ज्ञान में ही सुख और शांति है। विचार करो यह शरीर तो शव है और आत्मा शिव है। अगर इतना ज्ञान हो गया तो समझलो बेड़ा पार है।

३९. आधुनिक वैज्ञानिक युग में क्षणिक भौतिक उपलब्धियां भले ही प्राप्त हो जाएं; परन्तु शाश्वत सुख और शान्ति तो वीतराग विज्ञान से ही संभव है।

४०. संसार में प्राणी न तो सदा सुखी रहता है और न ही सदा दुःखी। सुख और दुःख दोनों हो जीवन के साथ लगे रहते हैं। वास्तव में यह विषय-कषाय सारे कषायों की जड़ हैं और इनमें आसक्ति ही मानसिक दुःखों का कारण हैं।

४१. भगवान् महावीर की वाणी का अध्ययन और गहराई से अवलोकन तथा सुलभ ग्रन्थों के माध्यम से संसार में प्रचार करने का कार्य करने से संसार में प्राणी शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

४२. प्राणी मात्र किसी भी प्रकार के बन्धन को नहीं चाहते हैं। सुन्दर पिंजरे में दूध और अंगूर खाने वाला तोता भी बन्धन से छूटना चाहता है।

४३. प्राणियों की अशान्ति का मूल कारण इच्छाएं हैं। इन इच्छाओं को निग्रह करने के लिए समीचीन ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र की आवश्यकता है।

४४. मानव अनादिकाल से जन्म जन्मान्तरों में भटकते हुए आकुलित होकर इच्छाओं की पूर्ति के लिए भरसक कोशिश

कर रहे हैं। परन्तु अभी तक असफलता ही हाथ लगी है। क्योंकि इन इच्छाओं की पूर्णता का हर प्रयत्न नई-नई वासनाओं को जन्म देकर प्राणियों को अधिकाधिक उलझाता रहता है।

४५. शरीर रूपी शव को शृंगारित करने का प्रयत्न यदि आत्मा रूपी शिव की ओर मोड़ा जावे तो शाश्वत अतीन्द्रिय सुख का आस्वादन किया जा सकता है।

४६. प्राणी मोहवश शरीर की चिकित्सा में अपना पूरा जीवन नष्ट कर देते हैं, फिर भी शरीर के रोग मिटते नहीं। आखिर इस शरीर को छोड़ना ही पड़ता है। एक क्षण भर भी आयु में वृद्धि नहीं कर सकते हैं। यदि प्राणी अपनी आत्मा की चिकित्सा करने लग जावे तो अल्प काल में ही अनन्त संसार का रोग मिट सकता है।

४७. जो प्राणी कर्म मल से छूटकर अविनश्वर सुख को पाना चाहता है; उसे अपने मन, वचन और काय से प्राणी मात्र पर अनुकम्पा करते हुए आत्महित में लग जाना चाहिये।

४८. निश्चय ही संसार में ऐसी कोई सुख सामग्री नहीं कि जिसे पुण्यशाली प्राप्त न कर सके। जिन्होंने पूर्व में दान, पूजा आदि करके पुण्य उपार्जन किया है। उदयकाल में उनके भयंकर वन भी नगर हो जाता है। सभी लोग उससे सज्जनता का व्यवहार करते हैं अर्थात् उन्हें सुख का साधन मिल जाता है।

४६. जिस प्रकार से पागल कुत्ते का विष वर्षाकाल आने पर प्राणी को दु:ख देता है; उसी प्रकार पाप भी उदय होने पर जीव को नरकगति के भयानक दु:ख देता है।

५०. जो व्यक्ति सांसारिक सुखों के लिए मोक्ष सुख देने वाले धर्म को छोड़ देता है। वह निद्यनीय उस मूर्ख के समान है जो ईंधन के लिए कल्प वृक्ष को काटता है। एक कील के लिए अपनी चलती हुई नौका को नष्ट करता है तथा थोड़े धागे के लिए चिन्तामणि रत्नों के हार को तोड़ता है।

५१. जीव अनादिकाल से पर वस्तुओं को अपनाकर अपने आत्म गौरव को नष्ट कर रहा है। अगर पर पदार्थों से मुंह मोड़कर अपने आत्म स्वभाव को ओर देखे तो सुखी हो सकता है।

५२ जिसके विचार उत्तम हैं मन शुद्ध है, वह यथार्थ में महान् है। दीन होने पर भी वह सुख और शान्ति की ओर जा रहा है।

५३. सुख और दु:ख प्राणी अपनी शुभाशुभ परिणति से ही उत्पन्न करते हैं। कोई भी साता असाता रूप कर्म किसी के गले नहीं पड़ता। मानव अपनी गलत विचारधारा से सांसारिक पर पदार्थों को अपनाकर दु:खी होता है तथा समीचीन विचारों से अपने स्वरूप को अवलोकन करता हुआ सुखी हो जाता है।

५४. अज्ञानवश प्राणी सांसारिक ऐश्वर्य, धन, पुत्र, कलत्रादि

को अपना मानता है। जब उन वस्तुओं का नाश होता है तब सिर पटक पटक कर रोता है और अपने को दुःखी बताता है। परन्तु वास्तव में इन दुःखों के मूल कारण पर वस्तुओं को अपनाना है। यदि प्राणी अपने यथार्थ स्वरूप को जान ले तो फिर दुःख का क्या काम ?

५५. जिसके पास सन्तोषरूपी धन है तो वह संसार में सबसे बड़ा धनवान् है; क्योंकि सन्तोष ही परम धन है।

५६. केवल आत्मा अनात्मा को भिन्न कहने मात्र से लाभ नहीं। लाभ तो तब है जबकि असलियत को समझकर पर से ममत्व छोड़ने का अभ्यास किया जावे और कर्म के उदय में साम्यभाव रखकर अपने को पहिचान कर सुख दुःख की कल्पना ही न की जावे।

५७. जब तक मनुष्य पर पदार्थों से अपने को सुखी, दुःखी मानता है तब तक वह आत्म बोध से शून्य है। आत्म बोध में प्रवीण पुरुष तो अपने आत्म सुख में ही मग्न रहता है।

५८. प्राणी ज्यों ज्यों अपने मानसिक विकारों को निकालता जायेगा त्यों त्यों वह स्वतंत्र सुख की ओर बढ़ता जायेगा।

५९. प्राणी के आत्मिक सुख को विच्छिन्न करने के लिए इच्छा रूपी तलवार उसके सिर पर सदा लटकती रहती है। और जो मनुष्य ज्ञान से शून्य हैं, उनपर गिरकर उनके आत्मिक सुख को छिन्न-भिन्न कर देती है।

६०. मानव ज्यों ज्यों अपनी आकांक्षाओं को वश में करने में सफल होगा त्यों त्यों ही उसके मन में सुख और शान्ति का उदय होगा।

६१. प्राणियों के दुःख उत्पन्न होने का कारण उनका ही मन है। वास्तव में दुःख, शोक और संताप का कारण सांसारिक वस्तुएं नहीं हैं और न उनका पृथक अस्तित्व है। पर वस्तुएं तो मात्र कारण हैं। परन्तु प्राणी स्वयं ही उन पर पदार्थों को अपनाता है और दुःखी होता है।

६२. संसार का निर्माता मन है जो पर वस्तुओं को अपनाकर अपने संसार परिभ्रमण को दीर्घ बनाता रहता है। फिर रात दिन सुख-दुःख की कल्पना करके रोता और हंसता है। वास्तव में यह एक पागल की सी प्रक्रिया है।

६३. जो प्राणी अपने हृदय से राग-द्वेष, काम-क्रोधादि कषायों को निकाल देता है वह सुख और शान्ति को प्राप्त कर लेता है। परन्तु जो इन कषायों में लिप्त होकर अपने स्वरूप को नहीं पहिचानता वह इस संसार में दुःखी ही रहता है।

६४. मनुष्य अपनी स्थिति और अवस्था का स्वयं निर्माता है। जितना जितना प्राणी विषय-वासनाओं में लिप्त रहेगा, उतना उतना ही उसका संसार बढ़ेगा तथा दुःख उठाता रहेगा और जितना इनको छोड़ता जावेगा उतना ही सुखी होता जावेगा।

६५. आचार्यों ने बताया है कि प्राणी अपने पाप-पुण्य का स्वयं ही निर्माता है। सबसे अधिक उपयोगी सिद्धान्त यह है कि प्राणी अपने मन का राजा तथा अपने स्वभाव का कर्त्ता है। अगर चाहे तो अपने उपयोग को निर्मल बनाकर इस दुःखमय संसार की बेड़ी को काटकर अनन्त सुख प्राप्त कर सकता है।

६६. संसार में प्राणी रात दिन अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रयत्न करते रहते हैं। वस्तुतः इच्छाओं की पूर्ति होना भी मुश्किल है। अगर हो भी जाये तो वह स्थायी नहीं, क्षणिक है अर्थात् इच्छाओं की पूर्ति से वे उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं।

६७. जब प्राणी अपनी इच्छाओं पर काबू पा लेता है तो उसी क्षण उसको परमानन्द होता है। वास्तव में जिनके हृदय में सन्तोषरूपी अमृत भरा हुआ रहता है उनके हृदय में तृष्णा रूपी आग नहीं जल सकती है। जिनका हृदय मलिन रहता है वहाँ ही ईर्ष्या, द्वेष आदि फल पकते हैं और वे आनन्द से वंचित रहते हैं।

६८. अगर आप अपने मानव जीवन की सफलता चाहते हैं तो आपको बुरी आदतों का विषय-वासनाओं का त्याग करना होगा तथा इच्छाओं का दमन करना होगा। अपने दैनिक जीवन में धार्मिक क्रियाओं को स्थान देना होगा; तब ही आपकी आत्मा में एक अद्भुत ज्योति जागेगी और

आप अनुपम सुख का रसास्वाद ले सकेंगे ।

६९. सुख और दुःख, शोक और हर्ष, राग और द्वेष, ज्ञान और अज्ञान आदि ये यह सब मानव अपने हृदय में आप ही अपनी शुभ अशुभ कल्पनाओं से करता रहता है। ये मात्र मन की ही अवस्थायें हैं। मानव चाहे तो अपने हृदय में अच्छे विचार करके सुखी हो सकता है और गन्दे विचार करके दुःखी भी हो सकता है।

७०. वास्तव में मानसिक शान्ति का नाम सुख है और मानसिक अशांति का नाम दुःख है। सच तो यह है कि सुख दुःख नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। मानव अपने विचारों से सुखी और दुःखी होता रहता है।

७१. प्राणी जब तक अपने खोटे आचरणों तथा बुरी वासनाओं को नहीं छोड़ता तब तक उसका जीवन दुःखमय ही रहता है।

७२. पापाचारी प्राणी दुःख और संताप से नहीं बच सकता है, चाहे वह पूर्व पुण्य के उदय में अल्पकाल तक अपने को सुखी समझता रहे; परन्तु पूर्व पुण्य के अस्त होते ही नियम से दुःखी होगा।

७३. सद्विचारों को ग्रहण करने और उनके अनुकूल प्रवृत्ति करने से मनुष्य परमानन्द को प्राप्त कर सकता है। परन्तु यदि इसके विपरीत निंद्य और कुत्सित विचारों से वही मानव अपने को दुःखी बना सकता है। वास्तव में विचारों

की ये दो अवस्थाएं हैं और मानव स्वयं ही इनका निर्माता है।

७४. वास्तव में इन्द्रिय जनित भोगों से सुख की इच्छा करना मूर्खता है; क्योंकि भोगों में सुख है ही नहीं। केवल अज्ञानी प्राणी इनमें सुख की कल्पना करता रहता है।

७५. भोग भोगते समय में किञ्चित सुख का आभास सा होता है। जैसे शरीर से कोढी पुरुष खाज खुजलाने से आनन्द का अनुभव करता है। परन्तु उत्तरकाल में वह सुख की अपेक्षा दु:ख का ही अनुभव करता है। उसी प्रकार भोग भोगने वाला भी उत्तरकाल में दु:खी ही होता है।

७६. देखो ! संसारी प्राणी किसी को अपना इष्ट समझकर राग करते हैं तथा किसी को अनिष्ट समझकर उनपर द्वेष करते हैं; लेकिन यह मात्र अज्ञानता ही है। विचार करो जिन पर वस्तुओं पर आप राग-द्वेष करते हो वे सब जड़ पदार्थ हैं। वे न तो आपका भला करते हैं और न बुरा करते हैं। सारांश यह है कि प्राणी जिन वस्तुओं के प्रति इष्टानिष्ट की कल्पना करते हैं, राग द्वेष करते हैं, वे भाव ही प्राणियों के सुख और दु:ख के कारण हैं।

७७. यदि प्राणी विचार पूर्वक देखे तो इन्द्रिय जनित सुख सच्चा नहीं किन्तु सुख का आभास है। क्योंकि इन्द्रिय-जनित सुख क्षणिक तथा अन्त में विरस, पराधीन, वर्तमान में दु:खमय और भविष्यत् में दु:खों का उत्पादक है। अत:

सुखार्थियों को शाश्वत आत्मिक स्वाधीन सुख प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिये।

७८. संसार के प्राणी कर्मों के उदय में हर तरह से व्याकुल रहते हैं। जैसे अग्नि के संयोग से जल गर्म होकर खलबल २ करता है। वास्तव में कर्मों के उदय में प्राणी को भी अशान्ति ही रहती है। क्योंकि कर्मों का और जीव का स्वभाव भिन्न है। अतः कर्म रहित अवस्था ही ग्रहण करने योग्य है। कर्मों की संगति से जीव कभी सुखी व स्वाधीन नहीं रह सकता है।

७९. वास्तव में संसार दुःख रूप ही है। इसमें प्राणी अनेक प्रकार के दुःखों को पाता है, भोगता रहता है। इस संसार में जन्म का, जरा का, बुढापा का, इष्ट वियोग का व अनिष्ट संयोग का दुःख प्रत्यक्ष में देखा जाता है।

८०. कर्मों के उदयकाल में संसार-समुद्र में डुबे हुए प्राणी को पग पग पर इष्टवियोग तथा अनिष्ट संयोग के दारुण दुःख भोगने पड़ते हैं। अपनी अज्ञानता से मोह जाल में फंसा हुआ प्राणी यह नहीं सोचता है कि पंचेन्द्रियों के विषय भोग भयंकर काले नाग के समान महान् दुःखदायक हैं। सम्पत्ति इन्द्र-धनुष के समान क्षणभंगुर है। अथाह समुद्र में गिरे हुए रत्न के समान यह मानव जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। अतः समस्त दुःखों के कारणभूत कर्मों के मूल कारण कषाय एवं विषय वासनाओं पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना

चाहिये।

८१. जिसकी आंखे विषय-वासनाओं से अन्धी हो रही हैं, वास्तव में अन्धा तो वही है। क्योंकि चक्षुओं से अन्धा मानव तो केवल रूप को ही नहीं देख सकता है; किन्तु विषयान्ध प्राणी अपने हिताहित को भी नहीं देख पाता है। अतः हे प्राणियों ! इन्द्रियों की दासता को छोड़कर स्वाधीन आत्मीय सुख में रमण करने का प्रयत्न करो।

८२. हम संसार की बातों से तो परिचित हैं। परन्तु हमारे अन्दर जो सच्चा सुख विद्यमान है उससे बिल्कुल अपरिचित हैं।

८३ अगर आप अपने जीवन में शांति और सुख चाहते हो तो सही दिशा में चलने का प्रयत्न करो। फिर आपको आगे बढ़ने से कोई भी शक्ति नहीं रोक सकती।

८४. भविष्य की चिन्ता में वर्तमान को अन्धकारमय मत बनाओ। यदि वर्तमान को अन्धकारमय बना दिया तो भविष्य कभी भी प्रकाशमान नहीं हो सकता। अतः सदा प्रसन्न रहो।

८५. पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ जानना व श्रद्धान करना ही ज्ञानीपन का द्योतक है। आत्म साधना में लीन रहना ही निर्वाण का कारण है।

८६. प्रेम का अभाव नहीं, अपितु मित्रता का अभाव ही जीवन को दुःखमय बनाता है।

८७. सच्चा सुख यदि है तो शांत जीवन। वह प्रत्येक प्राणी के अन्दर है। यदि हम सुख चाहते हैं तो हमें शांत रहना चाहिये।

८८. संसार में जो मानव अपने क्रोध को, अपने ही उपर झेल लेता है वही दूसरों के क्रोध से बच सकता है और वही अपने जीवन को सुखी बना सकता है।

८९. वास्तव में क्रोधादि कषायों और राग-द्वेषादि के तारतम्य के अनुसार आकुलता रहती है। इनके पूर्ण नष्ट हो जाने पर पूर्ण निराकुलता प्रकट हो जाती है।

९०. स्वात्मा के सिवाय पर के निमित्त से सुख मानना ही आकुलता का कारण है। पर के निमित्त से आत्मा को सुखाभास हो सकता है। वास्तव में सुख वह है जो आकु-लता तथा तृष्णा रहित हो।

९१. थोड़ी देर के लिए आत्मा को सुख का आभास हो, परन्तु वास्तव में सुख नहीं उसे आचार्यों ने सुखाभास कहा है।

९२ मानव यदि तृष्णा पर विजय प्राप्त करले तो सच्चा सुख प्राप्त कर सकता है। क्योंकि सन्तोष ही हमेशा मानव का माथा ऊँचा रख सकता है।

९३ जब तक तुमने शारीरिक और सांसारिक आसक्ति को निर्मूल नहीं किया तब तक सुख अवस्था प्राप्त करने की आशा मत रखो।

९४. जिस गांव या समाज में सभी नेता हों, सभी बड़े बुद्धिमान बनते हों और सभी महत्त्वाकांक्षी हों तो वह समाज अवश्य ही विनाश की ओर जाता है।

९५. गहन अध्ययन, न्यायोचित धन, पुण्य कर्म और अच्छी तरह की गई तपस्या, ये सब अन्तमें सुखप्रद होते हैं।

९६. संसार के सभी प्राणी सुख चाहते हैं और यह सर्वथा सत्य है कि संसार का कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता। अपितु हर युग में यह एक सनातन प्रश्न रहा है कि दुःख का विनाश कैसे हो ? यह बात दूसरी है कि मानव आज तक अपनी बेसमझी के साधनों की ओर भागता रहा है। किन्तु उसका साध्य सदा सुख ही रहा है। दुःखों का नाश हो और सुख मिले इसकी खोज में हर प्राणी भटकता रहता है।

९७. संसार के अज्ञानी प्राणियों की समझ का यही फेर है कि दुःख तो मिटाना चाहते हैं परन्तु दुःख को पैदा करने वाले कारणों को न तो समझते हैं और न ही छोड़ना चाहते हैं। फिर यदि कारण नहीं छूटता तो कार्य होने में सिवाय स्वयं के दूसरे को कैसे दोष दिया जा सकता है ? कोई यदि अपने उपर पत्थर फेंक कर नीचे सर करदे और कहे कि मुझे पत्थर की चोट न लगे तो यह एक हास्यास्पद बात होगी।

९८. अगर हम ही अपनी प्रवृत्तियों को सीमित व वृत्तियों को

संयमित रखें अर्थात् अपनी ही आत्मा को निकट से समझें व कर्त्तव्य पथ पर चले तो दुःखों की सृष्टि नहीं होगी। अपितु सुन्दर भावों के साथ अमिट सुख का अनुभव होने लगेगा।

९९. संसार में अपमान के बराबर अन्य कोई दुःख नहीं है। मृत्यु का दुःख क्षणिक होता है परन्तु मान भंग का दुःख तो जीवन भर रहता है।

१००. वास्तव में असंयमी जीवन दुःख का कारण है। जबकि संयमी जीवन सुख पहुंचाने में सहायक है।

१०१. अपराधी पर क्षमा ही धारण करो। प्रतिशोध की भावना छोड़कर उसके हित की ही कामना करो। इस वृत्ति से अलौकिक आनन्द की अनुभूति होगी।

१०२. चित्त को अस्थिर क्या करना। जहाँ भी हो चाहे पुण्योदय से साता हो, चाहे पापोदय से असाता का उदय हो, विकल्प करने से कोई लाभ नहीं। अपने आत्म स्वभाव को देखो और प्रसन्न रहो।

१०३. जब असाता के उदय होने से दुःख होता हो उस समय घबराना मूर्खता है। वह वातावरण तो तुम्हारा उपकारक है। धीर बनाने वाला है। उस समय अपने आत्मतत्व को देखो और प्रसन्न रहो।

१०४. संसार के लोगों को खुश करने से क्या ? जब तुम खुद ही दुःखी हो। अतः अपने सन्तोष से सुखी व सन्तुष्ट रहना

ही बुद्धिमत्ता है।

१०५. संसार के प्राणी अपनी ही अज्ञानता के कारण दुःखी हो रहे हैं। दुःखी करने वाला अन्य कोई नहीं। अपने में अपने को देखो। इष्ट-अनिष्ट की कल्पना हटालो। मात्र इसी उपाय से सुखी हो जाओगे।

१०६. जहाँ सन्तोष है, वहाँ सुख है। जबकि असन्तोष दुःख का मूल कारण है। अतः सुख का उपाय एक मात्र सन्तोष ही है।

१०७. संसार में जो दुःख है वह राग की करामात समझो और उसे छोड़ो। जब तक राग नहीं छोड़ोगे तब तक सुखी होना असंभव है।

१०८. राग द्वारा आत्मा अपना पतन करती है। अतः यदि उत्थान चाहते हो तो राग भाव छोड़ दो। सुख तुम्हें अपने आप ढूंढ लेगा।

१०९. जैसे मिर्च खाने वाला दुःख से सी-सी करता है और खाता भी जाता है। वैसे ही रागी पुरुष राग-जनित दुःखों को भोगता भी जाता है और राग भी करता है।

११०. जब तुम्हें क्लेश हो तो अपने अपराध पर दृष्टि डालो। सोचो कि किस राग के कारण यह दुःख हो रहा है? वस्तुतः राग के बिना संताप नहीं होता।

१११. चेतन और अचेतन बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध से ही यह आत्मा अनादिकाल से जन्म और मरण के दुःखों से दुःखित

होता आ रहा है। यदि यह प्रवृत्ति न छूटी तो दुःख से छूटना भी कठिन है।

११२. जो विषयों की आशा के दास हैं, वे सब के गुलाम बन जाते हैं। यदि गुलामी का दुःख नष्ट करना चाहते हो तो विषयों की आशा का नाश करदो।

११३. जैसे यदि कोई कैद में रहकर आराम चाहे तो वह उसकी मूर्खता है। वैसे ही संसार में रहकर सुख की आशा व प्रतीक्षा करता है तो वह भी उसकी मूर्खता है। क्लेश-मात्र है।

११४. जिन मनुष्यों के इन्द्रिय विषयों में भोगों में, धन में, प्रतिष्ठा आदि किसी में मूर्छा न हो तो उनके लिए न कोई विपत्ति है और न कोई दुःख है।

११५. संसार में सुख और दुःख नाम का कोई पदार्थ नहीं है। पर पदार्थों में आत्म बुद्धि होना दुःख है और अपने में आत्म बुद्धि होना सुख है।

११६. मोही आत्मा अपने राग परिणाम से दुःख का वेदन करता है। वास्तव में दुःख देने वाला कोई अन्य नहीं होता है।

११७. विपत्ति और दुःख की अवस्था में अपने किये हुए पापों पर दृष्टि डालो। पर में कुछ मत खोजो। जब अपना अपराध समझ में आ जावेगा तो आकुलता एवं अशांति अपने आप खत्म हो जायेगी।

११८. यदि तुम दुःखी हो तो दूसरों पर एहसान क्यों डालते हो ? क्रोध क्यों करते हो ? अपने किये हुए पापों को क्यों नहीं देखते ? अगर आपको अपना दोष नजर आ गया तो समझो सुख का मार्ग हाथ लग गया।

११६. योग्यता एवं क्षमता से बाहर काम करना तथा अनधिकार चेष्टा करना स्वयं एक विपदा है।

१२०. जिसे अपनी आत्म शक्ति पर विश्वास नहीं वह कभी भी सुखी एवं शांति का पात्र नहीं हो सकता।

१२१. नास्तिक के भगवद् भक्ति नहीं, क्योंकि वह आत्मा के सहज स्वरूप और परलोक को नहीं मानता है। उनको भक्ति से क्या प्रयोजन ? वे भक्ति किस की करें ? वे मिथ्यात्व कंलक से कंलकित हो रहे हैं। बेचारे दुःखरूपी सागर में डूबने के लिए अपने को समर्पण कर रहे हैं।

१२२. जिस सम्पत्ति को यह मूढ प्राणी रात-दिन एक करके अर्जित करता है। वह सारी सम्पत्ति तो भोग में आती नहीं। केवल उसके लिए दुःखी ही होना पड़ता है। और छोड़ी भी नहीं जाती। जैसे मच्छर लड्डू को खा तो सकता नहीं और छोड़ता भी नहीं किन्तु दूषित जरुर कर देता है।

१२३. मान, अपमान में, सरस-नीरस आहार में, लाभ-अलाभ में, जीवन-मरण में, सम्पत्ति-विपत्ति में, पूजक-वंदक में समता होना ही शांति व स्वाधीन सुख है। इसका प्रारम्भ भेद विज्ञान से है।

१२४. सुखी होने के लिए समता रामबाण औषधि है। उसी तरह दुःखी होने के लिए तृष्णा है। अब जो अच्छा लगे उसे करो। परन्तु यदि इस मानव-जन्म को संक्लेश में ही व्यतीत कर दिया तो फिर तेरा कुछ ठिकाना नहीं रहेगा।

१२५. सुख और शांति वैज्ञानिक खोज है। यदि कोई निष्पक्ष होकर इस खोज का प्रयत्न करे तो शीघ्र ही सफल हो सकता है। क्योंकि वह सुख शांति निज का गुण है। निजमें निजसे प्रकट होता है।

१२६. जिस तरह ज्ञानी को विपदा दुःखी नहीं कर सकती, उसी प्रकार सम्पदा भी सुखी नहीं कर सकती। वह तो सम्पदा, विपदा, को पाप पुण्य का उदय समझकर अपने स्वभाव में रहता है।

१२७. जब तक राग-द्वेष रहित परिणति न होगी तब तक सुख नहीं मिल सकता तथा पर द्रव्य में आत्मबुद्धि रहते हुए राग-द्वेष जन्य आकुलता नष्ट नहीं हो सकती। जब तक आकुलता रहेगी तब तक निराकुल सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

१२८ सदाचार ही सुख है। सदाचार ही सुख का जनक है। जबकि कदाचार दुःख है और दुःख का बीज है।

१२९. वास्तव में दुःख का अभाव ही सुख है और दुःख रागभाव है। अतः रागभाव का अभाव ही सुख है। जब राग का अभाव

हुवा तो आत्मा अपने स्वभाव में रह गया और सुख ही सुख व्याप्त हो गया।

१३०. अपने स्वभाव में स्थिर रहना ही सुख है। स्वभाव के लिए बाहर खोज करना गलती है। क्योंकि स्वभाव आपका निजी धन है और आप में ही विद्यमान है। अतः उसे अपने में ही देखो और सुख का अनुभव करो।

१३१. संसार में दीनता का कारण पर-पदार्थों में आशा है। किसी भी पर-पदार्थ से आत्मा का हित नहीं हो सकता है। प्रत्येक जीव अनन्तशक्ति वाला है। अतः निज शक्ति को संभालो और सुखी बनो।

१३२. हे ज्ञानघन ! तुम सांसारिक सुख प्राप्ति के लिए रात-दिन एक करके क्यों दुःखी हो रहे हो ? जबकि तुम्हारे अन्दर ही अनन्त सुख विद्यमान है। यदि तुम अपने में अवलोकन करो तो सुख ही सुख है।

१३३. मानव-जीवन का इतना समय तुमने शारीरिक सुख और भोगों को प्राप्त करने में व्यतीत कर दिया। मगर क्या तुम्हारी तृप्ति हुई ? यदि नहीं तो क्यों झूठा परिश्रम करते हो ?

१३४. जिसे अपनी आत्म शक्ति पर विश्वास नहीं वह शांति का पात्र नहीं हो सकता।

१३५. अहंकार और ममत्व को समाप्त कर अपने अन्दर चेतना शक्ति का दर्शन करने वाला पुरुष ही सुखी हो सकता है।

१३६. व्रत लेने के बाद उसका निरतिचार पूर्वक पालन करो । इससे बड़ा संतोष और आनन्द होगा। फिर आपके सामने सुन्दर सुख का मार्ग दिखाई देगा।

१३७. यदि कोई तुम्हारी अपवाद या निंदा करते हैं तो समझलो कि वे स्वयं की कषाय का प्रतीकार करते हैं । तुम्हारा कुछ नहीं करते। झूठमूठ में उन्हें अपना विकर्ता मानकर दुःखी होना मूर्खों का काम है।

१३८. सुख तो ज्ञान मात्र का अनुभव है। इसके अतिरिक्त सब विकल्प आकुलतामय होने से दुःख है।

१३९. मानव को दुःखी किस बात पर होना चाहिये ? जब पाप परिणाम पैदा हों तब विचार करना चाहिये कि यह पाप परिणाम क्यों पैदा होता है ? क्योंकि यही पाप परिणाम दुःख का कारण है। सम्पदा, विपदा, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग में क्या दुःखी होना ? यह सब तो कर्म की निर्जरा के लिए हैं।

१४०. वस्तुतः दूसरों को दुःखी करने के परिणामों से पाप होता है। तथा सुखी के परिणामों से पुण्य होता है। परन्तु विषय साधन के परिणामों से पाप ही होता है। चाहे विषय साधन से दूसरों को दुःख हो या सुख ।

१४१. आकुलता का कारण पचेन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति है। यह आकुलता प्रवृत्ति के समय भी होती है और बाद में भी बढ़ती रहती है। अतः विषय सुख सब ओर से आकुलता-

मय ही है ।

१४२. अपने दुःखी होने में जो आत्मा अपना अपराध सोचते हैं वे व्याकुल नहीं होते। परन्तु जो पर का अपराध सोचते हैं वे बिना विपदा ही दुःखी बने रहते हैं।

१४३. कोई भी तुम्हारे प्रतिकूल कुछ भी करे। परन्तु तुम क्रोध भाव मत करो। क्योंकि क्रोध होने से तुम्हारी स्वपरिणति बिगड़ जावेगी जिसका दुःख भी तुम्हें ही उठाना पड़ेगा।

१४४. महापुरुषों ने पर वस्तुओं के त्याग में सुख बताया है। परन्तु अज्ञानीजन रात-दिन पर वस्तुओं का संग्रह करने में लगे रहते हैं। तब बताओ दुःख का उपाय करने से सुख कैसे होगा ?

१४५. मरण-काल में भय होने का मूल कारण मूर्छा है। उसको छोड़ो तो फिर मरण समय दुःख किस बात का ?

१४६. उपयोग की निर्मलता ही वैभव है, सुख है, साथी है और सच्चा मित्र है। अन्य संयोगादि अवस्थाएं मात्र उलझन हैं।

१४७. संसार में ज्ञान मात्र के स्वाद में कोई विपत्ति नहीं है। जहाँ इससे हठे वहाँ विपत्ति और आपदाओं का डर है।

१४८. निज आत्मतत्व का अस्तित्व सदा ध्यान में रखो और क्षणिक वस्तुओं में दर्शक बने रहो। इससे अविनाशी अतीन्द्रिय परम सुख की प्राप्ति होगी।

१४९. आत्म ज्ञान के बराबर आत्मा का दूसरा कोई भी रक्षक इस संसार में नहीं है। अतः इसे ही देखो। इसे ही सोचो

श्रौर इसी में मग्न रहो श्रर्थात् इसमें ही सन्तुष्ट रहो, सुख का सच्चा उपाय यही है।

१५०. जैसे व्यापारियों का प्रयोजन एक मात्र धन प्राप्ति है वैसे ही ज्ञानभ्यासी भव्य का प्रयोजन तात्त्विक शांति है। श्रात्म ज्ञान शांति का मूल है।

१५१. श्रगर श्राकुलता से परेशान हो तो निज स्वभाव को समझने की कोशिश करो श्रन्यथा श्राकुलता से छुटकारा पाना मुश्किल है।

१५२. संसार में सभी प्राणी श्रकेले श्राते हैं श्रौर जाते हैं। श्रतः इस श्रकेलेपन की जिम्मेवारी का ध्यान रखकर जो चलेगा वह बाह्य वस्तुश्रों का वियोग होने पर भी दुःखी नहीं होगा। क्योंकि वह उन वस्तुश्रों को श्रपनी मानता ही नहीं।

१५३. वास्तव में न तो तुम्हें कोई सुखी कर सकता है श्रौर न कोई दुःखी। समीचीन दृष्टि से देखो तो तुम ही श्रपने सुख-दुःख के निर्माता हो। श्रपने सत्कर्मों पर विश्वास रखो श्रौर सुखी बनो।

१५४. वियोग संयोग का ही फल है। श्रतः दुःख का मूल कारण संयोग ही है। श्रतः संयोग में रुचि मत करो।

१५५. जो संयोग में सुख मानते हैं वे वियोग में दुःखी ही होते हैं। श्रतः यदि वियोग के दुःख में दुःखी नहीं होते हो तो संयोग में सुखी भी मत होश्रो यही तुम्हारा पुनीत कर्त्तव्य है।

१५६. संयोग और वियोग जनित आकुलता से बचना चाहते हो तो संयुक्त और वियुक्त द्रव्य की क्षणिकता, अशरणता पर चिंतवन करो। इस रोग की सबसे बड़ी दवा यही है।

१५७. मोही जीव संयोग में ही सुख मानता है। जबकि संयोग में द्वन्द्व, दुःख, संताप, विपदा और सभी अनिष्ट बातें हैं। अतः आचार्यों ने राग को द्वेष से भी बढ़कर दुःखदायी बतलाया है।

१५८. इष्ट वियोग होने पर विषाद परिणाम न होने देना एक तपस्या है। परन्तु इससे भी अधिक तपस्या यह है कि जो इष्ट समागम होने पर भेद विज्ञान से हर्ष रूप परिणाम न होने देवे।

१५९. विपत्ति तो पूर्व पापों का फल है। जिसको प्राणी अपनी ही भूल से उपार्जन करता है। अतः वस्तु स्वरूप को समझो और सुखी बनो।

१६०. संसार में चिंता चिता से भी भयंकर है। क्योंकि चिता तो मृतक को ही जलाती है जबकि चिंता जीवित को धीरे धीरे जलाती है। अत्यन्त संक्लेश पैदा करती है।

१६१. संसार को खुश करने की कोशिश मत करो। क्योंकि सभी खुश नहीं हो सकते। अतः अपने को अपने स्वरूप में सन्तुष्ट रखना ही बुद्धिमानी है।

१६२. मानव अपनी ही अज्ञानता से दुःखी होता है। अन्य कोई

दु:खी बनाने वाला नहीं। यदि इष्ट अनिष्ट की कल्पना हटाली जावे तो इस उपाय से सुखी भी हो सकते हो।

१६३. दूसरों के दोष देखकर असन्तुष्ट होने की आदत न डालकर अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति से असन्तुष्ट रहो। अपनी भूल का अवलोकन ही शांति का मूल कारण है।

१६४. जहाँ सन्तोष है वहाँ सुख ही सुख है और जहाँ जितनी संतोष की कमी होगी वहाँ उतना ही दुःख होगा। क्योंकि महापुरुषों ने कहा है कि सन्तोषी सदा सुखी। जबकि असन्तोषी सदा दु:खी। अतः यदि सुखी बनना चाहते हो तो असन्तोष से परहेज़ करो।

१६५. सुख न पर में है न पराधीनता में। वह तो निज (स्व) और निज के अधीन है।

१६६. अपने को निर्विकल्प स्थिति में लाने का यत्न करो। अतः सभी पर वस्तुओं से मूर्छा हटावो। यह संसार दुःखमय है ऐसा जानकर विकल्पों को छोड़ो और सुखी हो जावो।

१६७. धर्म एक मात्र सुख का कारण है। जबकि अधर्म दुःख का कारण है। अतः सर्वदा धर्माचरण करो।

१६८. संसार मार्ग प्रवृत्ति रूप है और मोक्ष मार्ग निवृत्ति रूप है। अतः यदि संसार से भयभीत हो तो निवृत्ति मार्ग को अपनावो और अनन्त सुख को प्राप्त करो।

१६९. यदि मानव सुख और दुःख का सत्य स्वरूप समझलें तो सुख ही सुख है और दुःख से छुटकारा मिल सकता है।

वास्तव में जहाँ आकुलता है वहाँ दुःख है। जहाँ मोह और राग-द्वेष है वहाँ आकुलता है। अतः मोह और राग-द्वेष से परे होना सुख है अन्यथा दुःख ही दुःख है।

१७०. जब दुःख का कारण मिले उस समय अधीर न होना ही साम्यभाव है। अधिक क्या कहें ? जब मालूम हो जावे कि इस समय तुम्हारी मृत्यु है। उस समय भी मरने से इन्कारी का भाव न होना ही साम्यभाव है।

१७१. जिन वस्तुओं को देखकर राग बढे उन वस्तुओं की ओर दृष्टिपात मत करो। वास्तव में राग-द्वेष और मोह से अरुचि होकर विषय-कषाय से दूर हो जाना सदा के लिए अविनाशी सुख प्राप्त करना है।

१७२. यदि आप कर्म जन्य दुःखों से उद्विग्न हो तो आपका कर्त्तव्य हो जाता है कि सबसे पहिले कर्म आने के कारणों को जानो और उन्हें रोको।

१७३. आशा तृष्णा का मायना है आकुलता है। अतः ज्ञाता द्रष्टा ही बने रहो अन्यथा शांति नहीं।

१७४. काम, क्रोध, मान, माया और लोभ इनमें से किसी एक के भी तीव्र उदय में चित्त मलिन हो जाता है। अतः उक्त पांचों शत्रुओं को भेद विज्ञानमय शस्त्र का प्रहार करके नाश करदो और सदा सदा के लिए सुखी हो जाओ।

१७५. जो मानव अधीर रहते हैं वे दुःखी हैं। धैर्य शांति मार्ग

पर चलाता है और दु:ख से बचाता है ।

१७६. अपनी परिणति राग द्वेष से रहित होना ही आत्मा का उद्धार, कल्याण, सुख एवं धर्म है। अतः वह आत्मा से पृथक नहीं है ।

१७७. इस असार और अशरण संसार में ये प्राणी अहोरात्र दु:ख का अनुभव करते हैं। मगर इसे छोड़ना भी नहीं चाहते हैं ।

१७८. सुख का मार्ग अपने आप में संकल्प-विकल्प न होने में है। विकल्प मिटाने के लिए पर-पदार्थों का त्याग करो और संकल्प मिटाने के लिए वस्तु तत्व को समझो ।

१७९. जिस समय तुम्हें दु:ख हो उस समय समझो कि इस समय मेरे असाता कर्म का उदय है और जिस समय सुख हो तो समझो कि इस समय साता का उदय है। पर एक बात ध्यान में रखो कि ये सब मेरे नहीं हैं। कुछ समय अपना काम करके ये भी चले जायेंगे चूंकि ये स्थायी तो हैं नहीं ।

१८०. यह अज्ञानी आत्मा जिस पर्याय में गया उसी जगह पर-पदार्थों के निमित्त विकल्प बढाता ही गया । फलतः संसार की यातनाओं को भोगता रहा। अब यदि इस मानव जन्म में थोड़ा विचार करें और सूझबूझ से काम लेवें तो दु:खों से छुटकारा हो सकता है ।

१८१. दु:ख में दु:खी और सुख में सुखी रहने वाला मानव अधम

है। और दुःख में सुखी रहने वाला मध्यम है। परन्तु दुःख और सुख में समान रहने वाला उत्तम पुरुष है। जो सुख और दुःख की कल्पना से रहित हैं वे उत्तमोत्तम मानव हैं।

१८२. संसार में सुख कहाँ ? मात्र विकल्पों का जाल घिरा हुआ है। सच पूछो तो विकल्प ही सुख के बाधक हैं।

१८३. प्रत्येक क्षण आत्म शांति का उपाय करो। अशांति का कारण तो विकल्प ही है। अगर इनसे बच गये तो समझो फिर शांति ही शांति है।

१८४. अगर सर्व सुख चाहते हो तो पर द्रव्यों का इच्छा छोड़ो। इच्छा रहते सुख नहीं हो सकता। अतः सुख की बाधक जो इच्छा है उसको छोड़ो और सुखी हो जावो।

१८५ संसार में तृष्णा के अनुकूल धनादि की प्राप्ति होना कठिन है। अतः तृष्णा करके अपने को दुःखी बनाना है।

१८६. जो जितनी ज्यादा खुशामद चाहता व करवाता है वह उतना ही ज्यादा दुःखी है।

१८७. यदि सुखी बनना चाहते हो तो इस इच्छा रूपी पिशाचनी से अपने को बचाओ। दूसरा कोई उपाय सोचना भूल है।

१८८. जो होना है वह होता है। इस दृढ़ विश्वास में आकुलता नहीं होती।

१८९. सांसारिक प्राणियों के जितना भी क्लेश है वह मात्र मोह परिणाम के कारण हो रहा है। जबकि यह मोह आत्मा

का स्वभाव है ही नहीं। परन्तु जिनको अपनी परिणति पर विश्वास नहीं है उनकी हालत हर समय क्लेश रूप ही है।

१६०. इन्द्रियों को वश किये बिना मानव जीवन निःसार है। असंयम में तो अनादिकाल व्यतीत किया। यदि संयम ग्रहण करते तो संसार का अन्त आ जाता। अतः निश्चित है कि असंयम दुःख है और संयम सुख है।

१६१. संसार में वे प्राणी धन्य हैं जिनका उपयोग आत्महित की ओर रहता है। जिन्हें आत्मा के आनन्द में ही आनन्द आता है। उन्हें दुःख का क्या काम ?

१६२. संग्रह बुद्धि एक ऐसा पिशाच है जिसके कारण मानव तृष्णालु होने से चैन नहीं पाता है। अतः सन्तोष रूपी अंजन को लगाकर जो देखेगा वह सुखी होगा।

१६३. आत्मा की सहज परिणति ही शांति है। जिसके प्रसाद से आत्मा की अनन्त विजय होती है। इसी सहज परिणति से उत्पन्न हुई निर्मलता एक अपूर्व निधि है। खेद है अज्ञानी प्राणी उसे समझते तक नहीं।

१६४. भेद विज्ञान के बल से राग-द्वेष, मोह न करने से आत्मा के स्वभाव का अनुभव होता है और अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।

१६५. वास्तव में कल्पना-जाल ही संसार है। अतः वस्तु स्वरूप को देखो और कल्पनाओं को मिटावो तथा सुखी हो जावो।

१९६. इस असार संसार में सारा दुःख तो विकल्पों का है। विकल्प तब न होंगे जब कषाय न होगी। कषाय तब न होगी जब तत्वज्ञान हो। तत्वज्ञान तब होगा जब तत्व ज्ञानियों की संगति हो। अतः सत्समागम का योग मिलाते रहो। सुख ही सुख है।

१९७. क्रोध कषाय आत्मा का स्वभाव नहीं विभाव ही है। विभावों में तकलीफ के सिवाय और है ही क्या ? अतः स्वाभाव में आने का प्रयत्न करो और सुखी होवो।

१९८. यदि आपको शांति पसंद है तो आप अपना व्यवहार अच्छा रखो। यदि आपके व्यवहार से दूसरों को अशांति होती है तो फिर आपको शांति कैसे मिल सकती है।

१९९. पर वस्तुओं में शांति खोज करना अशांति है। शांति तो अपने आप में ही है। अतः सिद्ध है कि शांति और अशांति बाहर से नही आती है। यह तो निजोपयोग के आधीन है अर्थात् स्वाधीन है।

२००. संसार में कितने ही प्राणी अन्धे हैं ? कितने ही बहरे हैं ? परन्तु तुम्हें तो दिखता भी है और सुनाई भी देता है, फिर भी शांति नहीं रखते। अपने मन को वश में करो और सुखी बनो।

२०१. अपने विचारों में जितनी पवित्रता रहेगी उतनी ही शांति और जितनी आकुलता रहेगी उतनी ही अशांति रहेगी।

२०२. सुख और शांति मूर्छा के अभाव में हैं और आत्मा का हित निर्विकल्पावस्था में है। क्योंकि बाह्य पदार्थों का ध्यान विकल्प का हेतु है जो दुःखमय संसार का कारण बनता है।

२०३. दूसरों के लिए कुविचार रखना तथा कुकर्म करना अपने उपयोग का दुरुपयोग करना है और दुःख को बुलाना है।

२०४. जैसे प्रचण्ड वायुवेग के समक्ष घनघोर बादलों की घटा देखते ही देखते तिरोहित हो जाती है, वैसे ही जब यह आत्मा स्व शक्ति के अनाकुल सुख से परिपूर्ण हो जाती है तब इसमें इतनी प्रबल शक्ति निखर आती है कि जन्म जन्मान्तर के बंधे हुए पाप भी स्वयमेव भस्मसात् हो जाते हैं।

२०५. अज्ञानी प्राणी हमेशा पर पदार्थों में उत्कर्ष और अपकर्ष की समालोचना करते रहते हैं। परन्तु वे कौन हैं ? इस ओर कभी भी ध्यान नहीं देते। यदि इस तरफ ध्यान दे लें तो पर-पदार्थों में सुख दुःख का आभास नहीं होगा।

२०६. जो प्राणी इस संसार में आडम्बर जाल से मुक्त रहते हुए निराकुल रहने की चेष्टा करेगा वही सुखी होगा।

२०७. संसार और मोक्ष दोनों आत्मा की विशेष अवस्थाएं हैं। आकुलता का कारण संसार है और निराकुलता का कारण

मोक्ष है।

२०८. जो मानव बुद्धिपूर्वक शांति मार्ग को अपनायेगा उसे कोई भी शक्ति अशांति नहीं करा सकती।

२०९. यदि कल्याण के इच्छुक हो तो प्रतिदिन कम से कम एक घंटा नियम से एकाग्रचित्त होकर बैठो और स्वहित के विषय में सोचो।

२१०. सदाचार ही संसार के सद्व्यवहारों को आधारशिला है। यदि सदाचार है तो दुःखरूप संसार भी स्वर्ग है। यदि अनाचार है तो सुखरूप स्वर्ग भी नरक है।

२११. मानव जीवन के दो मार्ग है-सदाचार और असदाचार। अज्ञानी प्राणियों के लिए सदाचार कुछ कठिन सा लगता है परन्तु उसमें सुख ही सुख है। दूसरा मार्ग असदाचार सरल प्रतीत होता है; परन्तु उसमें दुःख ही दुःख है।

२१२. आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करके यदि मानव अपनी मनोवृत्ति को स्थिर करके आत्मसिद्धि में लग जाए तो दुःख से छूटकर सुख प्राप्त कर सकता है।

२१३. मानव जन्म पूर्व पुण्य का फल है। संयम का साधन इसी पर्याय में हो सकता है। यदि प्राणी चाहे तो संयम धारण करके अनादिकाल के पापों को नाश करके मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकता है।

२१४. मानव पर्याय से ही जीव निज शक्ति का विकास करके

संसार परम्परा को और अनादिकालीन पापों को समूल नष्ट करके अनन्त सुख का आधार परमपद प्राप्त कर सकता है।

२१५. धर्म धारण से सुख होता है। ऐसा कहने वाले बहुत हैं। परन्तु उसे धारण करने वाले बिरले ही हैं।

२१६. मोही जीव सदा दुःखी रहते हैं; जबकि निर्मोही सुखी देखे जाते हैं। परन्तु जीवों की परिणति बड़ी विचित्र है। सुख को चाहते हुए भी काम दुःख का करते हैं।

२१७. जितना परिग्रहादि में ममत्व कम होगा उतना ही आनन्द प्राप्त होगा। यदि ममत्व ज्यादा होगा तो उतना ही दुःख बढ़ता जायेगा।

२१८ प्रायः लोग कहते हैं कि संसार में दुःख है, इसमें सुख नहीं है। परन्तु यदि इस विषय पर विचार किया जावे कि संसार में दुःख है तो फिर प्राणी इसे छोड़ने में क्यों आनाकानी करते हैं ? क्यों नहीं इस दुःखमय संसार से विरक्ति ले लेते हैं। मालूम होता है कि कथनी और करणी में अन्तर है।

२१९. संसार में निर्ममत्व रहना ही सुख और शांति का सच्चा उपाय है। जितना ममत्व कम होगा उतना ही प्राणी अधिक सुखी होगा।

२२०. आत्म चिन्तन ही आत्मीय सुख का सहज साधन है और पराधीनता का त्याग ही सुख का मूल मंत्र है।

२२१. पर पदार्थों में सुख की आशा छोड़ दो फिर तो अपने आप सुखी हो जावोगे।

२२२. प्राणी मात्र के हित की प्रवृत्ति करो और कषाय के उदय होने पर देखने और जानने की आदत डालो। अशांति के कारण उपस्थित होने पर अशांत मत बनो। एक दिन अपने आप सुखी हो जावोगे।

२२३. असदाचारियों की संगति से पृथक् रहना ही आत्म-कल्याण का मार्ग है। पर में परत्व और निज में निजत्व ही सुख का मूल कारण है।

२२४. जीवन को सुखमय बनाने के लिए अपने को समझो और अपने सिद्धान्तों को स्थिर करो। वास्तव में सुख का कारण स्व समय को स्व-समय में लगाना है तथा तटस्थ रहो।

२२५. संसार में अनेक पदार्थ हैं। उनमें से कोई भी पदार्थ हमारे शांत स्वभाव में बाधक नहीं है। जैसे बोतल में रखी हुई मदिरा विकृति का कारण नहीं। संसार के पदार्थ हमें बलात् विकारी नहीं बनाते। हम स्वयं गलत विकल्पों से उनमें इष्टानिष्ट कल्पना कर सुखी और दुःखी होते हैं। कोई भी पदार्थ न तो सुख देता है और न दुःख देता है।

२२६. सांसारिक प्राणियों का प्रयास केवल दुःख को दूर करने का है, लेकिन दुःख करने का सच्चा उपाय हमने जाना

ही नहीं आज तक। यदि जान लेते तो आज दुःख क्यों रहता ?

२२७. पर-पदार्थों के निमित्त से जो भी बात हो उसे पर जानो। और जब तक उन्हें पर नहीं समझोगे तब तक कदापि सुखी नहीं हो सकते।

२२८. यदि सुखी होना चाहते हो तो उसका सर्वोत्तम उपाय तो यह है कि पर पदार्थों से ममत्व त्याग दो।

२२९. अन्तर्बोध के बिना कल्याण होना असंभव है। लौकिक वाह-वाही में तो मात्र आकुलता है।

२३०. वास्तव में संसार में सन्तोष ही परमसुख और सच्चा धन है। जैसी तृप्ति सन्तोषामृत से आती है वैसी बाह्य साधन से नहीं आ सकती है।

२३१. प्राणियों की जितनी २ आवश्यकताएं कम होंगी उतना २ ही सुख अधिक होगा।

२३२. संसार में वही मानव सुखी बन सकता है जो कर्मों के उदयकाल में हर्ष-विषाद से अपने को बचाना जानता है।

२३३. जिनके अन्तरंग में शांति है तो उनके बाह्य वेदना से क्या बिगड़ने वाला है ? अर्थात् कुछ नहीं।

२३४. प्रायः संसारी प्राणी कहते हैं कि संसार में सुख नहीं है। परन्तु संसार में दुःख जानते हुए भी इसको छोड़ना नहीं चाहते हैं। यह एक मोह तथा अज्ञान का महात्म्य

है।

२३५. देखो ! उस निराकुल सुख का आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होते हुए भी मोहवश अज्ञानी प्राणी अन्यत्र खोजते रहते हैं। सुख तो अपने ही पास है। परन्तु आवश्यकता अपनी ओर देखने की ही है।

२३६. चित्त में जो लोभ कषाय बैठा है उसे निकाल दो। अपने पुण्योदय से जो उपलब्ध है उसमें ही सन्तोष रखकर सुखी हो जाओ।

२३७. पर पदार्थों के प्रपञ्च से पृथक् होकर जो अपने ही अन्दर अनन्त सुख भरा हुआ है, उसे क्यों नहीं देखते ?

२३८. वास्तव में ज्यादा धन सन्तोष का कारण होता तो अधिक धनी लोग सुखी होते। परन्तु अधिक तृष्णा के कारण वे दु:खी देखे जाते हैं। जबकि त्यागी वर्ग सुखी देखा जाता है। इसका मूल कारण यह है कि इच्छा के अभाव में सुख होता है।

२३९. यदि सुखी होना चाहते हो तो अपने उपयोगों को निर्मल बनाओ तथा विकल्पों को त्यागकर सन्मार्ग में रत हो जाओ। यही सुख का कारण है।

२४०. शांति प्राप्त होने में अशांति न होना ही कारण है। जब तक हम अशांति को न जानेंगे तब तक हम इस दु:खमय संसार में भ्रमण करते ही रहेंगे। यदि हमने अशांति को जानकर उसे छोड़ने का प्रयास किया तो समझलो फिर

शांति ही शांति है।

२४१. जिन्होंने पर के द्वारा सुखी दुःखी होने की कल्पना को त्याग दिया है वे ही प्राणी शांति का लाभ ले सकते हैं।

२४२. सुख और शांति का मार्ग तो आकुलता के अभाव में है और वह निज में निजाधीन है। परन्तु हम ऐसे पराधीन हो गये हैं कि हम उसे पर पदार्थों में देखते हैं। उसकी उपासना में आयु पूरी कर रहे है।

२४३. जहाँ समता है वहाँ शांति है। जहाँ ममता है वहाँ अशांति है। जितना बाह्य परिग्रह घटता है उतनी ही आत्मा में शांति आती है। वास्तव में शांति का उपाय अन्यत्र नहीं है। इसे अन्यत्र खोजना ही अशांति का कारण है और शांति के नाश का कारण है।

२४४. आत्मा स्वयं शांतिमय है। अतः हमें प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। जरुरत तो इस बात की है कि अशांति का वातावरण न बनावें।

२४५. गृहस्थावस्था में वीतराग अवस्था की शांति की श्रद्धा तो हो सकती है परन्तु उसका स्वाद कदापि नहीं आ सकता। जैसे मिश्री की बात करने से उसका स्वाद आ जाये, यह संभव नहीं। रसास्वादन तो चखने से ही होगा।

२४६. जैसे पत्थर की नाव स्वयं पार नहीं हो सकती है तो वह दूसरों को पार कैसे कर देगी ? उसी तरह जो स्वयं अशांत है वह दूसरों को शांति कैसे पहुंचा सकता

है ?

२४७. धार्मिक कामों में समय लगाना और उसमें आनन्द का अनुभव करना ही शांति का परम साधक है।

२४८. अशांति का कारण मूर्छा है। और मूर्छा का कारण बाह्य परिग्रह है। जब तक इन कारणों से न बचोगे तब तक शांति मिलना कठिन है।

२४९. सर्वत्र शांति ही है; परन्तु मोही प्राणी कहीं भी रहे। शांति के लाभ से वंचित ही रहता है। वास्तव में शांति का लाभ अशांति के बीज को नाश करने से ही होता है।

२५०. शांति का मार्ग अन्यथा मानने से ही अशांति होती है। यथार्थ मार्ग जाने बिना बड़े २ साधु भी अशांत रहते हैं।

२५१. शांति का अनुभव तब तक नहीं होता जब तक आकुलता मौजूद है। अतः आकुलता मिटाने के लिए पर वस्तुओं में इष्टानिष्ट की कल्पना मत करो।

२५२. यदि आपने तात्त्विक विचारों से निराकुलता पूर्वक रहने का अभ्यास कर लिया तो समझो आपने अनन्त संसार का अन्त ही कर दिया।

२५३. आत्म कल्याणार्थ अपनी आत्मा से पूछो। उत्तर यही मिलेगा कि जिन कामों के करने से आकुलता हो उन्हें कदापि न करो।

२५४. जहाँ मूर्च्छा है वहाँ निराकुलता नहीं। विषयों में अभिलाषा होना ही आकुलता है। अतः इसे छोड़ो और निराकुल हो जाओ।

२५५. जिन भावों में कुटिलता न हो वे ही भाव मानव के आनन्द के कारण हैं। जहाँ कुटिलता है वहाँ दुःख की जननी आकुलता है।

२५६. जितनी २ कषाय की कमी होगी उतनी २ ही शांति बढ़ती जायेगी और आनन्द का अनुभव होता जायेगा।

२५७. सांसारिक सुखों की इच्छा लेकर यदि आप धार्मिक काम भी करते हो तो उतना लाभदायक नहीं जितना होना चाहिये।

२५८. जितना २ कषायों का उपशम होता है उतना २ ही त्याग धर्म में आनन्द आता है।

२५९. जिनको संसार से भय होगा उनको ही त्याग धर्म में रुचि होगी और वे ही संसार से छूटने का उपाय सोचेंगे।

२६०. प्राणी मात्र का कल्याण हो, सभी सन्मार्ग गामी हों, सभी सुखी-समृद्ध तथा शांति के अधिकारी हों ऐसी भावना करने वाला प्राणी थोड़े ही समय में अनन्त सुख का अधिकारी होता है।

२६१. जहाँ तक बने दीन-दुःखियों के दुःख को दूर करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहो। हित-मित-प्रिय वचनों से उनको शान्त्वना दो।

२६२. ममत्व भाव के कारण संयोग और वियोग में सुख दुःख का अनुभव होता है।

२६३. अपने को कभी भी दुःखी मत समझो। पूर्व कृत पापोदय से अगर असाता का उदय आ गया तो उसे मिटाने के लिए साम्यभावरूपी औषधि को निःशंक होकर पान करो।

२६४. जन्मभर शास्त्रों का स्वाध्याय करने वाला यदि अपने को रोगी समझकर सामान्य प्राणियों की भांति विलापादि करे तो यह शोभाप्रद नही। होना तो यह चाहिये कि अपने विचारों को सुन्दर बनाकर सोचे कि "शरीर व्याधि का मन्दिर है न कि आत्मा" ऐसी दृढ श्रद्धा करके शारीरिक व्याधि को पर समझकर अपने आत्मोय सुख में मग्न हो जायें।

२६५. वस्तुओं में अच्छी और बुरी की वासना ही बन्ध का कारण है। आज तक हम अन्य पदार्थों में ऐसी कल्पना करते करते संसार में भटकते रहे। अतः दृष्टिपात करो और लौकिक चर्या को तिलाञ्जलि दो। अनादिकाल से यही आलाप रहा। अब एक बार निज आलाप की तान लगाकर तानसेन बन जाओ तो सब दुःखों का अन्त आ जायेगा और हमेशा २ के लिए सुखी हो जावोगे।

२६६. सुखीजनों की चापलूसो न करके दुःखीजनों का रोना सुनो। उनके रोने को सुनकर यथा शक्ति मदद करो।

२६७. कषाय के सद्भाव में शांति नहीं आ सकती है। कषाय

कालिमा से जिनका हृदय छिन्न भिन्न हो रहा है, भला उसके हृदय में शांति रूपी अमृत कैसे ठहरेगा।

२६८. मोह की कृशता होने पर ही आनन्द का विकास होता है और उसके होने में मात्र हम ही कारण हैं।

२६९. वेदनाओं का मूल कारण मोह है। जब तक यह अनादि-कालीन रोग हमारे साथ रहेगा तब तक बड़े २ दुःखों का सामना करना पड़ेगा।

२७०. षट्खण्ड पृथ्वी का स्वामी भी तृष्णा के सद्भाव में जलता रहता है और अपने को दुःखी ही मानता है।

२७१. आकुलता बढ़ने में मूल कारण मूर्छा ही हैं। इसी के वशीभूत होकर अनेक अनर्थों का उदय होता है। तत्पश्चात् उस अनर्थवृत्ति से मानव हेयोपादेय से शून्य हो जाता है और उसका फल दुर्गति है सो सभी जीवों के सामने है।

२७२. जब तक पर पदार्थों से सम्बन्ध है तभी तक यह प्राणी दुःखमय संसार का सदस्य है।

२७३. सांसारिक सुखों से तो केवल शरीर ही सुखी होगा आत्मा नहीं। जैसे गारा, मिट्टी चूनादि से मकान बनता है इन्द्रभवन नहीं बनता है।

२७४. जब प्राणी को स्वात्मरस का आस्वाद आ जाता है तब अन्य रस का सवाल ही नहीं उठता।

२७५. दुःख का कारण आकुलता है और आकुलता के कारण

रागादिक हैं जो प्राणी इन्हें आत्मीय समझता है वह दुःख का अधिकारी है।

२७६. जहाँ विषय सुख की लालसा है वहाँ दुःख ही दुःख है। क्योंकि इसमें आकुलता रहती है। जहाँ आकुलता है वहाँ मात्र दुःख ही है।

२७७. लौकिकजनों से अधिक सम्पर्क मत करो। क्योंकि यह एक रोग है जो बढ़ते २ असह्य दुःख का कारण बन जाता है।

२७८. यदि आपको संसार के दुःख इष्ट नहीं तो आपको एकाकी बनने की कोशिश करनी चाहिये।

२७९. परोपकारी उसी को कहते हैं जो पराये को दुःखी देखकर दुःखी होता है और उन्हें सुखी बनाकर सुखी होता है।

२८०. जो दूसरों के विभव को देखकर दुःखी होते हैं, वे ही प्राणी इस संसार में क्षुद्र जीव हैं।

२८१. संसार में पापों की उत्पत्ति का मूल कारण मानसिक विकार है। जब तक इसका शमन नहीं होता है तब तक सुख का लवलेश भी नहीं होता।

२८२. जिस समय प्राणियों के तीव्र कषाय रूप परिणाम होते हैं उस समय वे स्वयं दुःखी हो जाते हैं। तथा पापोपार्जन करके दुर्गति जाने का साधन जुटा लेते हैं। अतः यदि सुख की इच्छा है तो अपने परिणामों को सदा संभालते रहो।

२८३. वास्तव में विशुद्ध परिणाम ही सुखी और सम्पन्न बनाने में समर्थ हैं।

२८४. जो प्राणियों को सांसारिक दुःखों से निकालकर उत्तम सुख में रखता है वही परमार्थतः धर्म है तथा मोक्ष मार्ग में उपकारी गुरु है।

२८५. नरक गति को ले जाने में संक्लेश परिणाम वाहन का काम करता है और चिरकाल तक दुःख में डालता है।

२८६. प्राणी जब तक अपनी प्रवृत्ति को निर्मल नहीं बनाता तब तक वह अनेक दुःखों का सामना करता रहता है। क्योंकि परिणामों की मलिनता ही आत्मा को स्व-परिणति से च्युत करती है।

२८७. सर्वदा विचार पूर्वक कार्य करो जिससे वर्तमान के साथ २ भविष्य में भी सुख होवे। ऐसा काम मत करो कि आपकी आत्मा कलुषित होकर दुःख की भाजन बने।

२८८. अनन्त सुख का स्वामी आत्मा भी पराधीन होकर अपना अहित करके दुःख का पात्र बन जाता है।

२८९. इस संसार की रचना को देखकर सहज में ही जाना जाता है कि संसार दुःखमय है और इस बात को प्राणी मात्र जानता है परन्तु खेद की बात है कि मोही प्राणी यह सब जानते हुए भी इस दुःखमय संसार से निकलना नहीं चाहता है।

२९०. वास्तव में रागादिक द्वारा हमारी आत्मा में जो आकुलता

होती है उसी का नाम दुःख है। उस दुःख को कोई नहीं चाहता है; परन्तु मोही प्राणी उन रागादि भावों को छोड़ना भी नहीं चाहता है।

२६१. वास्तव में नरक गति की वेदना तो किसी से भी छिपी नहीं है। लोक में प्रायः यह देखा जाता है कि जब किसी को असह्य वेदना होती है तब कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति को नरक जैसी वेदना हो रही है।

२६२. यदि मन्द कषाय से मरण हुआ तो देवगति को यह आत्मा प्राप्त कर लेता है, परन्तु वहाँ पर भी अगर वस्तुस्वरूप को न समझकर मिथ्यात्व से अपने को नहीं बचाया तो वहाँ भी सुख का अनुभव नहीं कर सकता है।

२६३. तिर्यंगति के दुःखों को तो हे आत्मन्! तू प्रत्यक्ष ही देख रहा है। जैसे सबल पशु निर्बल पशुओं को सताते हैं या मारते हैं। तथा निर्दयी मनुष्यों के द्वारा मारे जाने पर तपड़ तपड़ कर मरते हैं और संक्लेश परिणामों के कारण नरक गति चले जाते हैं।

२६४. संसार में धनिकों के ठाट-बाट एवं सुख साधक सामग्री तथा भव्य-भवनों को देखकर लोग कहा करते हैं कि इनको तो स्वर्ग जैसा सुख है। परन्तु जितना दुःख उन श्रीमन्तों को तृष्णा तथा उस धन की रक्षा करने का है उतना दुःख शायद किसी सामान्य मनुष्यों को नहीं है।

२६५. हे आत्मन्! इस मानव भव को प्राप्त करके केवल भोगों

को भोगना तथा धन संग्रह करना ही इस मानव जन्म की सार्थकता नहीं है। सार्थकता तो तब है जबकि अपने आत्महित के लिए धर्म साधन करके अनन्त सुख को प्राप्त करलें।

२६६. संसारी प्राणियों के दुःख वेदन में मूल कारण मोहनी कर्म का उदय है। यद्यपि कर्म जड है। परमार्थ से वे न तो आत्मा का भला कर सकते हैं और न बुरा ही। परन्तु जब कर्मों का उदयकाल आता है तब संसारी आत्मा स्वयमेव रागादिरूप में परिणत हो जाता है। सिर्फ इतना ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। यदि कोई वस्तु स्वरूप को समझकर अपने को बचाने तो कोई आश्चर्य नहीं।

२६७. वास्तव में जीव के दुःख का कारण मिथ्याज्ञान है अर्थात् मोह के उदय से यह जीव शरीर को आत्मा मानता है और शरीर की नाना अवस्थाओं को अपनी अवस्था मानकर सुख दुःख की कल्पना करता रहता है। जब अपने कषाय के अनुकूल अवस्था होती है तब सुख मानता है और प्रतिकूल होने पर दुःख मानने लग जाता है।

२६८. हे आत्मन् ! तू अपने को रत्न त्रयरूप मोक्षमार्ग में ही स्थापित कर और उसी का ही ध्यान कर तथा उसी को अनुभव कर। जिससे तेरा अनन्त संसार से छुटकारा

हो जाये और सदा सदा के लिए तू सुखी हो जावे।

२९९. संसार में वे ही प्राणी सुखी हो सकते हैं जिनके पवित्र हृदय में कषाय की वासना न रहे।

३००. मानव को अपनी श्रद्धा को निर्मल बनाना चाहिये तथा विशेष विकल्पों का त्याग करके सन्मार्ग में लग जाना चाहिये। यही सुख का कारण है।

३०१. जो प्राणी अपने हित की अवहेलना नहीं करते हैं वास्तव में वे ही सुखी और आनन्द के पात्र हैं।

३०२. सुख स्वकीय परिणति के उदय में है बाह्य वस्तुओं के ग्रहणादि में नहीं।

३०३. प्राणी मात्र को अपने समान समझो। किसी को मत सताओ। क्योंकि पराये को सताना ही अपने लिए दुःख को बुलाना है।

३०४. जो प्राणी पर पदार्थों से विरक्त रहते हैं उन्हीं की आत्मा में शांति का स्वाद आता है।

३०५ संसार में सहनशीलता, सहानुभूति, श्रुताभ्यास आदि के बल पर प्राणी अपने अनादिकालिन कर्मकालिमा का नाश कर सुखी हो जाता है; परन्तु मोही प्राणी सांसारिक वस्तुओं में राग-द्वेष करके अपना संसार दीर्घ बना लेते हैं।

३०६. संसार के प्राणी ज्यादातर परिग्रह के पंजे में फंसे हुए हैं; रातदिन इसी के चक्कर में आकुलित रहते हैं।

॥ श्री महावीराय नमः ॥

श्री चौबीस महाराज की स्तुति

जिन धर्म और जिनराज की जय बोलो, बोलो, बोलो ।
श्री चौबीसो महाराज की; जय, बोलो, बोलो, बोलो ॥
ऋषभनाथ जिन धर्म बताया, अजितनाथ रिपु मोह हराया,
सम्भव भव दुःख दूर भगाया, अभिनन्द आनन्द बढ़ाया ।
कर्मजयी जिनराज की; जय बोलो, बोलो, बोलो ॥टेर॥ (१)
सुमति, पद्म शिव पद के दाता, श्री सुपार्श्व भव फंद मिटाता,
चन्द्रप्रभु जब मन में आता, समन्तभद्र तब मस्तक नाता ।
पुष्पदंत सुखकार की; जय बोलो, बोलो, बोलो ॥ (२)
शीतलनाथ, श्रेयांस महंता, बासु पूज्य है जग पूजन्ता,
विमल, विमल पद निरमल दाता; अनंतनाथ है जग विख्याता ।
धर्मनाथ महाराज की; जय बोलो, बोलो, बोलो ॥ (३)
शांति, कुन्थ, प्रभु सुख के दाता; अरह, मल्लि है जग के त्राता,
मुनिसुव्रत व्रत ग्रहण करंता, नमि, नेमी वैराग्य धरन्ता ।
वीतराग भगवान् की; जय बोलो, बोलो, बोलो ॥ (४)
पार्श्वनाथ आतम तप धरता; कमठ दुष्ठ उपसर्ग है करता,
महावीर पशु यज्ञ हटाता; विश्व प्रेम का पाठ पढ़ाता ।
वर्धमान महाराज की; जय बोलो, बोलो, बोलो ॥ (५)
ऋषभ आदि महावीर जिनेश्वर; वीतराग सर्वज्ञ जगेश्वर,
ये ही है सच्चे परमेश्वर, सिद्धसागर नमो नमोस्तु जिनेश्वर ।
विश्व धर्म सरताज की; जय बोलो, बोलो, बोलो ॥ (६)

(भजन)

सब ठाठ पड़ा रह जायेगा, जब लाद चलेगा बंजारा ॥टेक॥

यह पुत्र कलत्र कुटुम्बीजन, कोई काम न तेरे आवेगा ।
क्यों भूल रहा इन पर इतना; तू चेत तभी कल पावेगा ॥ (१)

ये दो दिन के सब साथी हैं; तू हंस अकेला जावेगा ।
इस पुण्य पाप की गठरी का, तू इकला बोझ उठावेगा ॥ (२)

इसलिये चेत ये मूरख चेतन; क्यों नाहक भरमाया है ।
इस दो दिन की जिंदगानी पर, तू इतना क्यों इठलाया है ॥ (३)

ये तन, धन, यौवन, रूप, विभव सबही एक दिन मिट जाना है ।
क्यों इनपर इतना करे गरब; ये कर्मों का अफसाना है ॥ (४)

तू निरख अरे ! निज चेतन को; जो काम आयेगा सदा तेरे ।
इस जग के जाल में रखा क्या है; यह भूलभूलैया सभी अरे ॥ (५)

मति करे सोच इन परिजन का; ये काम न आवेंगे तेरे ।
तू बोवेगा सो काटेगा; ये सब बटमार तेरे नेरे ॥ (६)

जिस दिन यहाँ से तू करे कूच; ये सभी गैले में छोड़ेंगे ।
ये गौन तेरी जो भरी पड़ी; इनके बांटन हित दौड़ेंगे ॥ (७)

फिर नाम कोई न ले तेरा; मुख तेरे से सब मोड़ेंगे ।
जग की है यही रीति चेतन; ये इसे भला क्यों तोड़ेंगे ॥ (८)

तू चला यहाँ से कर खाली; तब सगे जो कहलाते तेरे ।
मन में हंस रहे, तेरी, पूंजी के लालच वश आये नेरे ॥ (९)

जिस गृहणी पुत्र कलत्र आदि को; अपना है तू मान रहा ।
ये कारागृह की बेड़ी है; जिन पर इतना दे घ्यान रहा ॥ (१०)

सोया बहु 'चक्र' नींद त्यागो; आतम के हित पागो जागो ।
इस स्वप्न दिशा से निकल; रूप निज निरखो याके हित पागो ॥ (११)

कहते हैं गुरु सुनरे भविजन ! अजहूं न जगे तो फिर न जगे ।
ये आखिर तोकों दाव मिलौ, हित आतम के क्यों न पगे ॥ (१२)

॥ श्री महावीराय नमः ॥

सिद्ध सागर सतसई :-

अनुपम पद्य-रत्न-माला में प्रकाशित--

गत वर्ष "मानव मार्ग दर्शन" प्रथम भाग में श्री १०५ क्षुल्लक श्री सिद्धसागरजी महाराज द्वारा संकलित २०० पद्य बहुत ही स्फूर्त्तिदायक एवं उपयोगी प्रतीत हुये। बहुत से महानुभावों ने यह आग्रह भी किया कि जिस प्रकार महाराज के हृदय के उद्गार गद्यरूप में हैं उसी अक्षुण्णधारा को लिये हुये वे यदि पद्य रूप में भी हो सकें तो जनता का बड़ा हित होगा। क्योंकि गद्य की अपेक्षा पद्य भाग कण्ठस्थ भी किये जा सकते हैं अतः हमने पूज्य क्षुल्लकजी महाराज से निवेदन किया। हमारी प्रार्थना पर ध्यान देकर आपने सातसों पद्यों का यह अनुनय संकलन रूप ज्योतिपुंज हमें प्रदान किया। हम आपके इस भारी प्रयास का अभिनन्दन करते हैं और आशा करते हैं कि आप इसी प्रकार समय समय पर जनतोपयोगी साहित्य प्रदान करके जन समाज का महान् उपकार करते रहेंगे।

पं. विद्याकुमार सेठी

※ अनुपम पद्य रत्न-माला ※

सरस्वती के कोष की, एक अपूर्व बात ।
लेने से घट जात है, देने से बढ जात ॥ (१)

सुख दुःख रेखा कर्म की, टाल सके ना कोय ।
ज्ञानी भुगते ज्ञान से, मूर्ख भुगते रोय ॥ (२)

जन्म भर पर उपकार करना, ज्ञानियों का कर्म है ।
कर्म से पीछे न हटना, मानियों का मर्म है ॥ (३)

सूरत से कीर्ति बड़ी, बिना पंख उड़ जाय ।
सूरत तो जल जात है, कीर्ति यहाँ रह जाय ॥ (४)

वाणी तो अनमोल है, जो कोई जाने बोल ।
हृदय तराजू तोलकर, पीछे मुख से बोल ॥ (५)

तुलसी मीठे वचन से, सुख उपजे चहुं ओर ।
वशीकरण एक मन्त्र है, तज दे वचन कठोर ॥ (६)

बोलें तें जान पड़े, मूरख विद्यावान ।
कांसे रुपे की प्रगट, बाजे होत पहिचान ॥ (७)

मन की गति को कह सके, सब जाने भगवान ।
जाने या को वश किया, सो पहुंचे शिवथान ॥ (८)

को काको दुःख देत है, देत कर्म झकझोर ।
उलझे सुलझे आप ही, ध्वजा पवन को जोर ॥ (९)

वे समझे ते समझ सी, समझे समझे नाहिं ।
काचे घठ माटी लगे, पाके लागे नाहिं ॥ (१०)

तरुवर सरवर सन्त जन, अरु वरषे मेह ।
परहित के कारणे, चारों धारी देह ॥ (११)

उज्ज्वल वर्ण, गरीब गति, एक टांग मुख ध्यान ।
देखत लागे भगत से, निपट कपट की खान ॥ (१२)

रागादिक बिन सन्त के, यों आश्रव झर जाय ।
सूना घर का पाहुना, ज्यों आवे त्यों जाय ॥ (१३)

ज्ञानी ज्ञान मगन सदा, रागादिक मल खोय ।
चित्त उदास करनी करें करम बन्ध नहिं होय ॥ (१४)

जो बिन ज्ञान क्रिया अवगाहे, जो बिन क्रिया मोक्षपद चाहे ।
जो बिन मोक्ष कहे मैं सुखिया, सो अजान मूठन में मुखिया ॥ (१५)

इटे कठिन संसार दुःख, जो विघटे मिथ्यात ।
कटे बृक्ष के, के दिना, हरे डाल अरु पात ॥ (१६)

ज्ञान कला जिनके घट जागी, ते जगमहिं सहज वैरागी ।
ज्ञानी मगन विषय सुखमाहीं, यह विपरीत संभवेन नाहीं ॥ (१७)

जैन वचन अञ्जन बटी, आंजे सुगुरु प्रवीन ।
राग तिमिर तोऊ न घटो, बड़ो रोग लखलीन ॥ (१८)

भेद ज्ञान साबुन भयो, समरस निरमल नीर ।
धोबी अन्तर आतमा, धोवे निज गुण चीर ॥ (१९)

ज्ञानामृत के पान को, जिसके बहिरे कान ।
उस पेटू का सत्य ही, जीवन मृत्यु समान ॥ (२०)

नहिं पढ़ा तो भी उसे, सुनने दो उपदेश ।
कारण विपदाकाल में, वह ही शान्ति सुधेश ॥ (२१)

दुष्ट दुष्टता न तजे, निन्दत ही सब कोय ।
तो सज्जन सज्जनता, क्यों तजो, निज हित जग जग होय ॥ (२२)

दुष्ट भलाई न करे, किये कोटि उपकार ।
सरपन दूध पिलाइये, विष का ही दातार ॥ (२३)

सीख सरल को दीजिये, विकट मिले दुःख होय ।
बये सीख कपि को दई, दिये घोंसला खोय ॥ (२४)

पोथी पढ़ पढ़ जग मुयो, पण्डित भयो न कोय ।
अढाई अक्षर प्रेम का, पढे सो पण्डित होय ॥ (२५)

सब रस को रस नेम है, नेमहि को रस प्रेम ।
जा घर नेम ना प्रेम है, ता घर कुशल न क्षेम ॥ (२६)

बुरा जो खोजन मैं चला, बुरा न दीखा कोय ।
जो दिल खोजो आपना, मो-सम बुरा न कोय ॥ (२७)

खोटा दाम अर दुर्वचन, दोऊँ की एकहि चाल ।
जग में जा को दीजिये, फेर देय तत्काल ॥ (२८)

सूत्र बांच उपदेश सुन, तजे न आप कषाय ।
जान बूझ कूवा पड़े, तासों कहा बसाय ॥ (२९)

चेतन तुम तो चतुर हो, कहा भये मति हीन ।
ऐसो नर भव पायके, विषयन में चित्त दीन ॥ (३०)

धन्धे में दिन जात है, सोवत रात विलात ।
कौन वेर है धरम की, जब ममता मर जात ॥ (३१)

बड़े पुरुष करुणामयी, मन से ही श्रीमान् ।
लौकिक धन से क्षुद्र भी, होते हैं धनवान् ॥ (३२)

भूख रोग मेटन असन, वसन हरन को शीत ।
अति बिनान नहीं कीजिये; मिले सो लीजे मीत ॥ (३३)

कर संचित कोरो रहे, मूरख बिलसे न खाय ।
मांखी कर मोड़त रहे, सहद भील ले जाय ॥ (३४)

गति-गति में मरते फिरे, मन का गया न फेर ।
फेर मिटे तें मन तना, मरे न दूजी बेर ॥ (३५)

कारज धीरे होत है, काहे होत अधीर ।
समय पाय तरुवर फले, के तक सींचो नीर ॥ (३६)

धरम-धरम सब कोई कहे, मरम न जाने कोय ।
जीव जात जाने बिना, धर्म कहा से होय ॥ (३७)

धरम लहें न दुष्ट चित्त, लोभी जस किम पाय ।
भाग्यहीन को लाभ नहि, नहीं औषधि गति आय ॥ (३८)

भाग्यहीन को न मिले, भली वस्तु का योग ।
दाख फले जब बाग में, काक के होय कण्ठ में रोग ॥ (३९)

दुष्ट मिलत ही साधु जन, नहीं दुष्ट हो जाय।
चन्दन तरु को सर्प लग, विष नहिं देत बनाय ॥ (४०)

आयु गले अघ न गले, मोहि फुरे नहीं ज्ञान।
देह घटे आशा बढ़े, देखो नर की बान॥ (४१)

राग आश्रव मूल है, वैराग्य संवर धार।
जें न जाना भेद दया का, वह गया नर भवहार॥ (४२)

दान, पूजा, शील, जप, तप, भाव विविध प्रकार।
राग बिन शिव सुख करत है, राग से संसार॥ (४३)

वीतराग कहा कियो, यह बात प्रगट निहार।
सोई कर सुख हेत, ध्यानत शुद्ध अनुभव सार॥ (४४)

अधिक सरलता सुख नहीं, देखो विपिन मंझार।
सीधे विखा कट गये, टेढे खड़े हजार॥ (४५)

जाते कुल शोभा लहे, सो सपूत वर एक।
भार वहै रोड़ी चरै, गर्दभ भये अनेक॥ (४६)

भला किये कर है बुरा, दुर्जन सहज सुभाय।
पय पांये विष देत है, फणी महा दुःख दाय॥ (४७)

अलप किये फल दे घना, उत्तम पुरुष सुभाय।
दूध भरे तृण को चरे, ज्यों गोकुल की गाय॥ (४८)

बढ़ी लक्ष्मि के खान को, सीरी होत अनेक।
किन्तु विपति विकराल में, काम न आवे एक॥ (४९)

घड़ी, छुरी, छतरी, छला, छबड़ा पंच छकार ।
इन्हें नित्य ढिग से राखिये, अपने अहो कुमार ॥ (५०)

लोभ पाप का बाप है, क्रोध क्रूर जमराज ।
माया विष की बेलरी, मान विषम गिरिराज ॥ (५१)

कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह ।
मान बढाई ईर्षा, दुर्लभ तजनी ऐह ॥ (५२)

काम - क्रोध का मन्डया बादला, गाज रहो अंहकार ।
आशा - तृष्णा चमके बिजली, भीग रहो संसार ॥ (५३)

पंडित मूर्ख दो जनें, भोगत भोग समान ।
पंडित समवृति ममत बिन, मूरख हरष अमान ॥ (५४)

दो मुख पंथी चलैन पंथा, दो मुख सूई सिवै न कंथा ।
दोऊ काम न होय सयानें, विषय भोग अरु मोक्षहि जानें ॥ (५५)

एक नूर आदमी, हजार नूर कपड़ा ।
लाख नूर गहना-गोटा, कोटि नूर नखरा ॥ (५६)

इसकी शान न जाने पावे, चाहे जान भले ही जावे ।
बिजयी विश्व केसरिया प्यारा, झंडा ऊंचा रहे हमारा ॥ (५७)

नर से नारायण भये, धार दिगम्बर भेष ।
कमलासन से थिर रहे, रहा न कारज शेष ॥ (५८)

सरस्वती के भण्डार की, बड़ी अपूरब बात ।
ज्यों - ज्यों खरचे त्यों त्यों बढ़े, बिन खरचे घटि जात ॥ (५९)

जो सुख चाहों आतम तुम, छोड़ो बाते चार ।
चोरी, जारी, दीनता और पराई नार ॥ (६०)

जो सुख चाहो मित्र तुम, छोड़ो परकी आस ।
सुख नहीं संसार में, देखो अपने पास ॥ (६१)

जो सुख चाहे आत्मा, परकी संगति त्याग ।
लोहे की संगति पिटै, देखो जग में आग ॥ (६२)

मात–तात सुत भ्रात स्वजन, तुझ साथी स्वारथ के ।
तू इन काज साज ग्रह को सब, ज्ञानादि मत खाते ॥ (६३)

तन–धन भोग संयोग स्वप्न सम, बार न लागे बिलाते ।
ममत न कर भ्रम तज तूं भ्राता, अनुभव ज्ञान कहलाते । (६४)

चेतन लक्षण आत्मा, जड़ लक्षण तन जाल ।
तन की ममता त्याग के, लीजे चेतनचाल ॥ (६५)

जब मृत्यु आती शीशपर, मित्रों को तो मौन है ।
च्युत पोत खग को मध्यसागर, शरणदाता कौन है ॥ (६६)

गुण अनन्त के रस सभी, अनुभव रस के मांहि ।
तातें अनुभव सारखो, और दूसरो नांहि ॥ (६७)

वस्तु स्वभाव विचारते, मन पावे विश्राम ।
अस्वादित सुख ऊपजै, अनुभव ताको नाम ॥ (६८)

कल्पतरु निज आत्मा, पर की करते आह ।
सुधा सिन्धु को छोड़कर, करे ओस की चाह ॥ (६९)

आत्म निधि का त्याग कर, घर–घर डोलत दीन।
निज तत्त्व समझे बिना, यह मृग भटकत दीन ॥ (७०)

क्षमा तुल्य संसार में, कोई न और सहाय।
यही जगत में सार है, सेवो नित प्रति आय ॥ (७१)

रात गवांई सोयकर, दिवस गमायो खाय।
हीरा जैसा मनुष्य भव, कौड़ी बदले जाय ॥ (७२)

सुख की है लालसा, त्यागो व्यर्थ बलाय।
आत्म गुण चितवन करो, सुख का यही उपाय ॥ (७३)

गुरु कुम्हार, शिष्य कुंभ है, घड़–घड़ काढत खोट।
अंतर हाथ पसार कर, बाहिर मारत चोट ॥ (७४)

जन्म भर उपकार करना, ज्ञानियों का धर्म है।
कर्म के पीछे न हटना, मानियों का मर्म है ॥ (७५)

सुख दुःख रेखा कर्म की, टाल सके ना कोय।
ज्ञानी भुगते ज्ञान से, मूर्ख काटे रोय ॥ (७६)

को काको दुःख देत है, कर्म देत झकझोर।
उलझे सुलझे आप ही, ध्वजा पवन के जोर ॥ (७७)

ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर, साजि मत गंज ईंधन ढोवै।
कांचन भाजन धूर भरे शठ, मूढ सुधारस से पग धोवै ॥
बाहित काग उड़ावन कारण, डारि महामणि मूर्ख रोवै।
त्यों यह दुर्लभ देह बनारसि, पाय अजान अकारथ खोवै ॥ (७८)

माता–पिता सुत बन्धु सखीजन, मीत हितु सुख कारण पीके।
सेवक राज मंतग जबाजि, महादल साजि रथी रथनी के ॥
दुर्गति जाय दु:खी विललाय, पंर सिर आय अकेलहि जीके।
पंथ कुपंथ गुरु समझावत, और सगे सब स्वार्थ ही के ॥ (७६)

माया मरी ना मन मरा, मर मर गये शरीर।
आशा तृष्णा ना मरी, कह गये दास कबीर ॥ (८०)

सुख की है लालसा, त्यागो व्यर्थ बलाय।
आत्म गुण चिंतन करो, सुख का यही उपाय ॥ (८१)

राजा राणा तक मिटे, चला न कुछ अधिकार।
ज्यों त्यों कर जीते रहे, जीवन के दिन चार ॥ (८२)

यह संसार अनित्य है, अरु परिवर्तन शील।
बदल जायेंगे एक दिन, कुछ जल्दी कुछ ढील ॥ (८३)

पूर्व दशा जब नहिं रही, वर्तमान क्या बात।
क्षण भर का नहीं पता, बनै दिवस की रात ॥ (८४)

जग की वस्तु अनित्य लख, करो न मन अभिमान।
नहिं आज की वस्तु कल, सबका है अवसान ॥ (८५)

नहिं रक्षक नहिं शरण है, यह संसार विचित्र।
करनी का ही फल मिलै, करनी करो पवित्र ॥ (८६)

मरण काल जब सामने, बचा सकै नहिं कोय।
डाक्टर वैद्य हकीम सब, खड़े देखते होय ॥ (८७)

माता पिता कलत्र सुत, खा जाते सब हार ।
काल दबोचै आय जब, चलै न कुछ अधिकार ॥ (८८)

निज हित करते प्रेम सब, स्वार्थ बिना नहिं बात ।
अशरण यह संसार है, स्वार्थ हेतु परघात ॥ (८९)

इन अशरण संसार में, शरण भेद विज्ञान ।
उत्तम करनी प्रभु लगन, अशरण शरण महान् ॥ (९०)

यह संसार असार है, इसमें कुछ नहिं सार ।
सार समझ इसमें रमें, अन्तिम रस है क्षार ॥ (९१)

अन्त समय नहिं काम दे, धन धरती बल धाम ।
स्वार्थ हेतु रोवे जगत्, आवै एक न काम ॥ (९२)

दीन दुःखी धन के बिना, धनि अधिक धन काज ।
जिससे पूछो वह दुःखी, रंक सेठ नृपराज ॥ (९३)

आकुलता में दुःख है, जग आकुलता मूल ।
तृष्णा आकुलता-जनक, तृष्णा तीक्ष्ण त्रिशूल ॥ (९४)

जहाँ तृष्णा तहाँ दासता, विषय दासता पाप ।
संतोषामृत के पान से, मिटै सकल संताप ॥ (९५)

स्वयं अकेला जन्म ले, मरे अकेला आप ।
रुग्ण अकेला आप हो, सहे अकेला ताप ॥ (९६)

भीड़ पड़े साथी नहिं, सब हो जाते दूर ।
स्वार्थ हुये साथी बने, प्रेम करें भरपूर ॥ (९७)

कोई न दुःख बढ़ा सकै, भोगे धन परिवार ।
फल मिलता जब पाप का, एक न आवै द्वार ॥ (९८)

पूछै मित्र कलत्र सब, निज मतलब के हेत ।
निज हित सबको जगत् प्रिय स्वार्थ बिना सब प्रेत ॥ (९९)

गोरख धंधा जगत् है, फंस जाते सब लोग ।
एक मार्ग उद्धार का, धरो योग तज भोग ॥ (१००)

आत्मा है तन से पृथक, एक समझना भूल ।
तन जड़, चेतन आत्मा, तन में रहो न फूल ॥ (१०१)

दर्शन ज्ञानस्वरूप चित्, आत्मा शुद्ध स्वरूप ।
रुधिर मांसमय देह में, दीखत है तद्रूप ॥ (१०२)

ज्ञान भानु जब हो प्रगट, लखै उभय का रूप ।
विघटे सब अज्ञान तम, बनै शिव मही-भूप ॥ (१०३)

विषय भोग होने न दें, स्वं भेद विज्ञान ।
जगत् कीच में मनुज फंस, भूल जात पहचान ॥ (१०४)

स्वानुभूति जब तक न होय, नहिं मिले सन्मार्ग ।
अनुभव पंथ लगे बिना, बुझै न भव की आग ॥ (१०५)

तन का वास्तव रूप क्या, किमाकार यह देह ।
हाड़ चाम मज्जा रुधिर, मांस आदि का गेह ॥ (१०६)

बाहर सुन्दर सा लगै, भीतर है घिन गेह ।
आत्माराम जब ना रहे, करे न कोई स्नेह ॥ (१०७)

आत्माबिन तन कुछ नहिं, क्षण भर रखै न कोय।
पुत्र मित्र दारा सुता, फूंकै आगे होय ॥ (१०८)

ऐसे तन को पोसना, आत्म का नहिं ध्यान।
यही मूल में भूल है, और यही घोर अज्ञान ॥ (१०९)

विषय भोग आत्म अहित, हित है ज्ञान विराग।
जब तक ज्ञान विराग नहिं, तब तक नहिं श्रद्धान ॥ (११०)

जो आशा के दास है, वे सब जग के दास।
आशा जिनकी किंकरी, उनके पग जगवास ॥ (१११)

एक-एक इन्द्रिय विषय, करै गजब संसार।
पचेन्द्रिय के विषय से, संकट का नहिं पार ॥ (११२)

ज्यों अशुभास्रव जीव के, त्यों उलझत बिन माप।
हँसकर बांधे कर्म को, फिर भोगे रो रो आप ॥ (११३)

काय वचन मन योग ही, है आश्रव का हेतु।
शुभ और अशुभ कर्म ही, पाप पुण्य का सेतु ॥ (११४)

पाप पुण्य दोनों तजे, बने विशुद्ध स्वरूप।
बेड़ी लोह सुवर्ण की काटे, सो शिव भूप ॥ (११५)

पाप पुण्य के बंध को, योग शुद्धि से रोक।
आत्म रस को जो चखे, सहै न वह नर शोक ॥ (११६)

ज्ञान मन्त्र के ध्यान से, राग द्वेष नहिं आत।
व्रत चारित्र कृपाण से, कर्म शत्रु भग जात ॥ (११७)

इन्द्रिय विषयों को तजे, बने जितेन्द्रिय भव्य।
तप श्रद्धान विवेक से, कर्म न बांधे नव्य॥ (११८)

अरि क्रोधादिक होत वश, क्षमादि आयुध पास।
चपल योग रुकते सभी, तजे विषय की आश॥ (११९)

गुप्ति, समिति, परिषह सहन, नहीं भीति उपसर्ग।
हो विशुद्ध चारित्र तो, डरे कर्म का वर्ग॥ (१२०)

करो कर्म की निर्जरा, जगत् भ्रमावे कर्म।
संचित कर्म कटे बिना, मिले न शाश्वत शर्म॥ (१२१)

यों होती नित निर्जरा, पर उससे क्या काम।
व्रत तप से जो भव्य के, देती वह सुख धाम॥ (१२२)

इच्छा के बिन निर्जरा, नहीं रखती बहुमोल।
धरे सुतप चारित्र के, दुःख मेटे विन तोल॥ (१२३)

जड़ पर आत्म की विजय, जब होवे भरपूर।
स्वसंवेद्य आनन्द से, होय दुःख सब दूर॥ (१२४)

कर्म निर्जरा हेतु है, तप विवेक स्वाध्याय।
सुख भीतर बाहर नहीं, समझो ध्यान लगाय॥ (१२५)

जब तक परिचय हो नहीं, क्या है लोक स्वरूप।
तब तक जग भ्रमता फिरे, होकर सुन्दर भूप॥ (१२६)

वातवलय आधार पर, स्थिति है तीनों लोक।
अधो मध्य ऊपर जहाँ नारक नरसुर थोक॥ (१२७)

तोन लोक में सुख नहीं, दुःख पूरित सब ठौर।
सुख के बाद न दुःख हो, वह सुख है दुःख और ॥ (१२८)

शाश्वत सुख है मुक्ति में, पुनरागति से रिक्त।
राज्य बाद फिर रंक हो, वहां न बनिये लिप्त ॥ (१२९)

सुख दुःख के जाने बिना, कैसे दुःख हो नष्ट।
दुःख का आलय लोक है, शिवपद सौख्य विशिष्ट ॥ (१३०)

ज्ञान सूर्य जब प्रगट हो, सूझे सकल पदार्थ।
हेयाहेय लखै सभी, तभी लखै परमार्थ ॥ (१३१)

भरे चराचर लोक में, है विवेक आलोक।
हेयाहेय विवेक से, सूझे लोकालोक ॥ (१३२)

पुत्र मित्र धन सब सुलभ, मात पिता परिवार।
सुलभ वस्तु सब जगत् की, सुलभ जगत् अधिकार ॥ (१३३)

जग के साधन साध्य सब, दीख रहै सब ठौर।
दुर्लभ बोध यथार्थ का, जिस बिन भ्रम का दौर ॥ (१३४)

श्रद्धाज्ञान चारित्र से, होय विशुद्ध प्रकाश।
भेदज्ञान जब प्रगट हो, विघटै जग की आश ॥ (१३५)

ज्ञान ज्योति जब प्रगट हो, अंधकार हो दूर।
उस आदर्श प्रकाश में, खिलै चेतना नूर ॥ (१३६)

जो सुख आत्मिक बोध में, वह तो और न ठौर।
इन्द्रियरत ढूंढत फिरो, मिलै न उसकी कोर ॥ (१३७)

आत्मिक सुखरत भव्य को, भोग लखै सब हेय।
जग सुख हित रण में न फंस, समझे शिव आदेय ।। (१३८)

धर्म-धर्म सब ही कहें, धर्म वस्तु है गूढ।
मर्म धर्म का कठिन है, क्या जाने जग मूढ ।। (१३९)

जो भव दुःख से भिन्न कर, शिव सुख में धर देत।
समीचीन वह धर्म है, जन भ्रमनाशन हेत ।। (१४०)

वस्तु स्वभावी धर्म है, वस्तु विभाव अधर्म।
हटा विकृति करदे प्रकृत, यही धर्म का मर्म ।। (१४१)

परिग्रह के हित लोक सब, करे महा अपराध।
अनृत, स्तेय, अब्रह्म, अरु, हिंसा करे अगाध ।। (१४२)

हिंसा माता पाप की, लोभ पाप का बाप।
अनृत, स्तेय, अब्रह्मसुत, करते मिल परिताप ।। (१४३)

जहाँ पाप तहं धर्म नहीं, धर्म बिना नहिं शर्म।
शर्म बिना नर भव बिफल, सार जगत् में धर्म ।। (१४४)

धर्म घटे सब कुछ घटै, धर्म घटे दुर्नीति।
न्याय नीति सद्भाव बिन, कष्ट अशान्ति रु भीति ।। (१४५)

धर्म नियंत्रित देशना, धार्मिक शासन सूत्र।
अगर रहे संसार में, कोऊ न हो उत्सूत्र ।। (१४६)

धर्म कर्म निरपेक्षता, दुःख अशान्ति का मूल।
श्रद्धा तत्व परोक्ष में, नहिं रखना है भूल ।। (१४७)

धर्म बिना मिलते नहीं, सौख्य शान्ति संतोष।
आपस में झगड़े सभी, बढ़े क्षोभ अघरोष ॥ (१४८)

क्षमा सुमृदुता सरलता, सत्य शोच तप त्याग।
संयम और विरागता, शील धर्म में राग ॥ (१४९)

मानवता की सफलता, धर्म बिना नहिं सिद्ध।
सदाचार परलोक की, श्रद्धा धर्म प्रसिद्ध ॥ (१५०)

जो चाहो निज आत्म का, रक्षण अरु उत्थान।
करो धर्म का अनुसरण, समझो धर्म प्रधान ॥ (१५१)

सदाचार पाले नृपति, जनता उस अनुसार।
यथा नृपति जनता तथा, उक्ति विदित संसार ॥ (१५२)

निज संस्कृति का मूल है. मति आचार विचार।
दर्शन नाम विचार का, धर्म नाम आचार ॥ (१५३)

धर्म कहो या आचरण, दर्शन या सुविचार।
दर्शन और फिलासफी, एकार्थक व्यवहार ॥ (१५४)

मानव का कर्तव्य क्या ! किस प्रति क्या व्यवहार।
भक्ष्य अभक्ष्य पदार्थ क्या ! गम्य अगम्य विचार ॥ (१५५)

जहाँ विवेक न आचरण, हेयाहेय विचार।
देश समाजरु व्यक्ति वह, पावे क्लेश अपार ॥ (१५६)

धर्महीन चलता जहाँ, हो शासन अधिकार।
कभी न होगा देश वह, सुख समृद्धि आधार ॥ (१५७)

धर्म बिना सुख शान्ति नहिं, मिलै नहीं सन्तोष।
देख परस्पर जगत् में, बढ़ता जाता रोष॥ (१५८)

पर का वैभव देखकर, आता मन में क्रोध।
उसके पाने के लिये, होता है प्रतिशोध॥ (१५९)

जो चाहो भारत मही, रहे पवित्र हमेश।
धर्मनाश होने न दो, भ्रष्टाचार न लेश॥ (१६०)

जो फल चाहो श्रेष्ठ यदि, धरो शुद्ध आचार।
तभी देश होगा सुखी, होगा कीर्ति पसार॥ (१६१)

सत्य, अहिंसा तत्व है, त्याग–संयमाधार।
संयम त्याग बने वहीं, जहं आचार विचार॥ (१६२)

पालन निज कर्तव्य का, नाम इसी का धर्म।
जहाँ न होती बात यह, होता वही अधर्म॥ (१६३)

भूल गये कर्तव्य सब, अपना क्या कर्तव्य।
अंधकार में यो पड़ा, राज्य प्रजा भवितव्य॥ (१६४)

जग प्रसिद्ध यह उक्ति है, व्यापक देश विदेश।
जैसा नृप वैसी प्रजा, संशय का नहिं लेश॥ (१६५)

शासक हो धार्मिक अगर, जनता धार्मिक होय।
शासक धर्म–विहीन यदि, प्रजा धर्म दे खोय॥ (१६६)

शासक चालै धर्मपथ, जनता भी उस राह।
शासक बिषयी लंपटी, जले प्रजा उस दाह॥ (१६७)

जनता का स्तर गिर रहा, इसमें किसका दोष।
सोचो समझो बुद्धि से, वृथा न करिये रोष॥ (१६८)

विषय भोग अरु पाप की, है शिक्षा सर्वत्र।
धर्महीनता गुण जहाँ, सौख्य शान्ति क्यों तत्र॥ (१६९)

जहं देखो वहं ही लगी, कनक कामिनी चाह।
रोटी कपड़ा विषय सुख, लगी हृदय में दाह॥ (१७०)

वस्तु मिलती भाग्य से, भाग्य धर्म आधीन।
धर्म कर्म आधीन है, दुःखी सुकर्म विहीन॥ (१७१)

पाप पुण्य का भेद नहिं, इन्द्रिय सुख ही सार्थ।
नैतिक स्तर उत्थान की, वहां कथा है व्यर्थ॥ (१७२)

धर्म भावना के बिना, बिगड़ रही सब सृष्टि।
भारत का दुर्भाग्य जो, इधर न जाती दृष्टि॥ (१७३)

उच्च नीच का भेद नहिं, छोटा वड़ा न कोय।
फिर आज्ञा किसकी चले, क्यों अनुशासन होय॥ (१७४)

नूतन-नूतन बाद रच, उनका करें प्रचार।
भोली जनता जा फंसे, करती नहीं विचार॥ (१७५)

पानी से वानी बने, मनको रचता अन्न।
खाना पीना शुद्ध यदि, आत्मा सदा प्रसन्न॥ (१७६)

भोजन पान अशुद्ध यदि, पैदा होय कुबुद्धि।
कुमति उपद्रव कारिणी, सोचे नहीं दुर्बुद्धि॥ (१७७)

जब बिनाशवेला निकट, तब हो मति विपरीत।
बुद्धि-सुरक्षा इष्ट यदि, लो इन्द्रिय-गण जीत॥ (१७८)

सबसे ऊंचा जगत् में, भारत का आदर्श।
वही आज करता न कल, करो विचार विमर्श॥ (१७९)

मानव का लक्षण यही, जिसमें होय विवेक।
समझ भेद विज्ञान से, भिन्न करै प्रत्येक॥ (१८०)

जैसी जिसकी भावना, वैसा हो परिणाम।
अशुभ तथा शुभ को सजे, पाप पुण्य परिणाम॥ (१८१)

धाम धाम क्यों भटकता, क्यों करता है पाप।
क्या लाया क्या ले जायेगा, वृथा सहे संताप॥ (१८२)

जर जोरु व जमीन है, जड़ झगड़े की जान।
जीवों की इस जगत् में, जाती इनसे जान॥ (१८३)

विषयों का जो दास है, वह दुनियां का दास।
जो विषयों का दास नहिं, उसका जग हो दास॥ (१८४)

हिम्मत कभी न हार तू, प्रभु को नहि बिसार।
कम खा, गम खा, मोह तज, यही विश्व में सार॥ (१८५)

सब जीवों का भय हरे, करे जीव उद्धार।
मोह क्षोभ से रहित है, वही ज्ञान है सार॥ (१८६)

बड़ा पुरुष वह जगत् में, जिसका हृदय विशाल।
बड़े समान तला गया, तो भी शान्ति विशाल॥ (१८७)

बने मोह का काल जो, वही काल का काल।
नहिं गलेगी काल की, वहां कभी भी दाल ॥ (१८८)

क्षमा युक्त हो शूरता, त्याग सहित धनवान।
प्रिय वाक्यों से दान हो, गर्व रहित हो ज्ञान ॥ (१८९)

स्वपर विवेकी जीव जो, करे स्वपर उत्थान।
नारी से खंडित नहिं, पंडित उसको मान ॥ (१९०)

बिना ध्यान के जीव भी, कभी न होता शुद्ध।
कनक उपल तपता नहिं, कैसे होता शुद्ध ॥ (१९१)

यदि उन्नति को चाहता, गिर मत अधके कूप।
गर्त खोद खुद जा गिरे, वह मूर्खों का भूप ॥ (१९२)

सप्त व्यसन को छोड़ दे, पांच पाप को त्याग।
कंद मूल अरु फूल का, भक्षण दो सब त्याग ॥ (१९३)

राग समान न आग है, निन्दक काला नाग।
जल जायेगा मित्र तू, शीघ्र यहां से भाग ॥ (१९४)

माता सम परदार को, पर धन लोष्ट समान।
निज सम जीव सभी गिनो, हो पंडित अम्लान ॥ (१९५)

घड़ी गई तब चैन भी, गई साथ की साथ।
राग गई तब आग भी, गई साथ की साथ ॥ (१९६)

चेतन जड़ न हो सके, जड़ चेतन क्यों होय।
निश्चय से यह जान के, तज दे तब सुख होय ॥ (१९७)

संसार संतति का करो, जल्दी–जल्दी नाश।
फिर मानव इस जगत् में, अधिक न करता वास॥ (१९८)

स्व पर वस्तु को जान तू, राग द्वेष दे त्याग।
निज स्वभाव में लीन हो, स्वानुभूति में पाग॥ (१९९)

हाड़ मांस नहिं ज्ञान है, हाड़ मांस है देह।
बिना भेद विज्ञान के, कैसे बने विदेह॥ (२००)

स्वानुभूति में यों घुले, जैसे जल में रंग।
मोह क्षोभ से ज्ञान को, करो नहिं तुम भंग॥ (२०१)

तप तपते तन क्षीण हो, दान दिये धन क्षीण।
प्राण क्षीण सन्यास में, तीनों हुये न क्षीण॥ (२०२)

वाणी में न असत्य हो, निन्दा सुनो न करना।
नयन कुटिल करना नहिं, तज पर बनिता ध्यान॥ (२०३)

मन को हटा कुमार्ग से, क्रोध न मुख पर धार।
जिन चरणों का ध्यान धर, जिनवाणी उर धार॥ (२०४)

जग से रहे उदास जो, वहो न पर का दास।
तन जग से न उदास जो, वह पर का दास॥ (२०५)

सब जीवों से मित्रता, गुणी में करो प्रमोद।
क्लेशित पर करुणा करो, तटस्थ दुष्ट पर होय॥ (२०६)

सुख दुःख में समभाव हो, वैरी मित्र समान।
वियोग योग में सम रहे, घर बन उभय समान॥ (२०७)

धूम नहिं बतियां नहिं, नहिं तेल का पूर।
झंझा से बुझता नहिं, ज्ञान दीप भरपूर ॥ (२०८)

अपना लोभ घटाइये, करो न खेंचा तान।
वरना टूटे ध्यान की, तेरी अनुपम तान ॥ (२०९)

निज प्रदेश को छोड़कर, ज्ञान कहां पर जाय।
जैसे मिश्री मिष्ठता, तज कर कहिं न जाय ॥ (२१०)

घट-घट में जाता नहिं, घट-घट जान ज्ञान।
स्वानुभूति से विश्व को, जान रहा यह मान ॥ (२११)

कहे सिद्ध सिन्धु सुनो, करो न अब तुम क्रोध।
ज्ञायक सुखिया नित रहो, तन मन वचन निरोध ॥ (२१२)

सुख से या दुःख से यहाँ, मरता जीव अवश्य।
तो सुख से ही देह को, आत्मन् तजो अवश्य ॥ (२१३)

व्रतयुत भी मरना पड़े, अथवा व्रत से मुक्त।
तो व्रत ले तन त्यागना, ज्ञायक है उपयुक्त ॥ (२१४)

एक बार जो शान्ति से, तज देता है देह।
उत्कृष्ट सात या आठ भव, रह कर बने विदेह ॥ (२१५)

देखो जिनवर देव का, परम दिगम्बर बिम्ब।
मुख पर उसके देखिये, ध्यान शान्ति प्रतिबिम्ब ॥ (२१६)

कभी न कर अन्याय तू, न्याय पक्ष ले चेत।
रावण कंस समान तू, बनना नहीं अचेत ॥ (२१७)

कर्म में मोह प्रधान है, गुण में ज्ञान प्रधान ।
ब्रह्मचर्य सम व्रत कहां, तप में ध्यान प्रधान ॥ (२१८)

गुप्ति में मन गुप्ति है, मुनि के मौन प्रधान ।
इन्द्रिय में रसना कही, ऐषण समिति प्रधान ॥ (२१६)

सुख दुःख में प्रभु को भजे, क्यों दुःख उसको होय ।
जो जिनको सुमिरे नहि, उस नर को दुःख होय ॥ (२२०)

वीतराग सर्वज्ञ हितु, उनको कहो महेश ।
ब्रह्म, विष्णु बुद्धये, उसके नाम विशेष ॥ (२२१)

गुण गण की पूजा कही, हाथ पैर नहिं पूज्य ।
गुण ग्राहक जो विश्व में, वह हो जाता पूज्य ॥ (२२२)

धर्म मूल सम्यक्त्व है, उसमें दया प्रधान ।
दया अहिंसा रूप जो, करती सर्व प्रधान ॥ (२२३)

अपने ही आपको, जो पाता नहिं जीव ।
मर पच तप के मुक्ति को, नहिं पाता वह जीव ॥ (२२४)

युक्ति से कर कार्य तू, अर्थ युक्ति से होय ।
युक्ति से शास्त्रार्थ हो, मुक्ति-युक्ति से होय ॥ (२२५)

घोड़े की सी लात है, ज्यों मूर्खों की बात ।
खाना है यदि लात नहिं, मत करो उनसे बात ॥ (२२६)

जो पर है वह पृथक है, पृथक न अपना होय ।
जैसे सूरज चांद ये, दोनों एक न होय ॥ (२२७)

जो खाने को जी रहा, वह है पशु समान।
जो जीने को खा रहा, वह नहिं पशु समान ॥ (२२८)

मरके तजना नहीं भला, भला तजे तन जाय।
तन ममता तज शान्ति से, कर्मकाट शिव पाय ॥ (२२९)

लोभी नर को धूर्त भी, मिलते सदा अनेक।
जैसे लोभी जीव को, बंधते कर्म अनेक ॥ (२३०)

छिपा सीक की ओट में, पर्वत एक विशाल।
छिपा मोह की ओट में, ज्ञायक परम विशाल ॥ (२३१)

जुदे जुदे सब तार है, तोड़ न सकता कौन।
मिले तार रस्सा बना, उसको तोड़े कौन ॥ (२३२)

सुख अरु ज्ञान अपार है, नहिं रहा संसार।
कर्म काट मुक्ति बरी, वह पहुंचा भव पार ॥ (२३३)

श्रोता हंस समान हो, या हो गाय समान।
तथ्य गहे या घास खा, अमृत करे अमान ॥ (२३४)

निश्चय अरु व्यवहार से, वस्तु तत्व को जान।
जो प्रमाण ज्ञायक रहे, तटस्थ सुज्ञ पहिचान ॥ (२३५)

जो जाने तत्वार्थ को, हो जाता मध्यस्थ।
पाता फल वह ज्ञान का, जो होता मध्यस्थ ॥ (२३६)

वहते-वहते नीर के, घिस जाती चट्टान।
श्रवण मनन अभ्यास से, कट जाता अज्ञान ॥ (२३७)

भक्ति कर भगवान् की, हो जावेगा भवपार।
बिना भक्ति मुक्ति नहिं, डूबेगा मझ-धार॥ (२३८)

ध्यान अध्ययन मुख्य है, सुमुनि धर्म अम्लान।
पूजा-दान प्रमुख है, गृहस्थ का यह जान॥(२३९)

क्रोधी एक भुजंग ने, किया क्रोध भरपूर।
ट्रेन तले दब के मरा, हुआ चुचकना-चूर॥ (२४०)

मान न करना चाहिये, उससे हो अपमान।
रावण नरक को गया, करके वह अभिमान॥ (२४१)

कीचक प्राण गंवा गया, करके मायाचार।
भीम भुजाओं से मरा, मूर्खों का सरदार॥ (२४२)

लोभ करे आदर घटे, मुख में झूठे बैन।
मधु मक्खी सा फंस मरे, कभी न पाता चैन॥ (२४३)

सत्-संगति से नीच भी, पाता है सत्कार।
काक-स्वर्ण गिरि संग से, दिखता सुवर्णकार॥ (२४४)

सभी मनोरथ पूर्ण हो, ऐसे है जिन देव।
पाप नाश के कारणे, करो चरण की सेव॥ (२४५)

आधि-व्याधि सब की हरे, शोक रहित भगवान्।
उनको नमन सदा करो, जो शिव सुख दे दान॥ (२४६)

नहिं जाने भगवान् को, कैसे हो भगवान्।
जो जाने भगवान् को, वह होता भगवान्॥ (२४७)

प्रभु के गाते गीत जो, अमृत वाणी होय।
मिश्री के संयोग से, पानी अमृत होय ।। (२४८)

कोई न उसको जीतता, जिसने जीते कर्म।
अजित नाम उसका धरो, यही धर्म का मर्म ।। (२४९)

दान शील कल्याण कर, सुमति करे शिवदान।
सब जीवों को मुक्ति सुख, देवे वह भगवान् ।। (२५०)

जैसे फूटे पात्र में, टिकता है नहिं नीर।
चुगल खोर घट स्वान के, कैसे टिकती खीर ।। (२५१)

कामी को उपदेश त्यों, ज्यों फूटे घट नीर।
चढ गिलोय ज्यों नींब पर, कभी न होती खीर ।। (२५२)

ऊँच नीच दोनों करें, निज निज बल अनुसार।
पाप त्याग निज धर्म को, आगम के अनुसार ।। (२५३)

भूल कभी करना नहीं, पाप मूल व्यभिचार।
मोक्ष मार्ग इससे रुके, नरकों में दुःख भार ।। (२५४)

यदि विषयों से विमुख नहिं, मुक्ति न सन्मुख होय।
जो विषयों से मुक्त है, वही मुक्त नर होय ।। (२५५)

जो सोता व्यवहार में, वह अनुभव में जाग।
पाता है निर्वाण को, स्वानुभूति में पाग ।। (२५६)

राग आग है भाग तू, त्या-त्याग यह राग।
कभी न इसमें दाग तू, सिद्ध लगे नहिं दाग ।।(२५७)

विषयों में जो जागता, वह सोता दिन रात।
जो विषयों में रक्त नहिं, वह जागे दिन रात ॥ (२५८)

प्रभु पुजा का सब करो. देवो पात्रों में दान।
संयम पालो तप करो, शास्त्र पढो सुखखान ॥ (२५६)

हिंसा झूठ चोरी तज, और पर-वनिता का प्रेम।
मूर्छा परिग्रह त्याग दे, पर से मत कर प्रेम ॥ (२६०)

जुआ शिकार चोरी नशा, और पर वनिता का प्यार।
वैश्या-सेवन छोड़ दे, और कर न मांस अहार ॥ (२६१)

सुहित कर सुन्दर सरस, परम वाक्य साहित्य।
दुःख कारक प्रिय वाक्य जो, कह न उसे साहित्य ॥ (२६२)

जिसमें नहिं विरोध हो, कभी न खण्डित होय।
सब जीवों का दुःख हरे, आप्त वचन सो होय ॥ (२६३)

नौ रस में रस दो कहे, सब रस के सिरमोर।
उनमें शान्ति प्रधान है, करुण दूजी ओर ॥ (२६४)

कर्म शत्रु को जीत ले, वह है सच्चा वीर।
मोह आदि जीते नहिं, क्या वह सच्चा वीर ॥ (२६५)

संसार दुःख से दे छुड़ा, उत्तम सुख दे दान।
कर्म मूल से छेद दे, वही सुधर्म पहिचान ॥ (२६६)

जिससे दुःख है जीव को, करे कर्म का बन्ध।
उसको अधरम जानिये, मोह क्षोभ सम्बन्ध ॥ (२६७)

दान दिया तप व्रत किया, भरे पुण्य भण्डार ।
जिसने प्रभु भक्ति करी, वह उतरा भव पार ॥ (२६८)

जिसने जिन दर्शन किया, पाई निधि अपार ।
चाहे पाई न एक हो, वह सबका सरदार ॥ (२६९)

पर नारी से प्रीत तू, कभी न करना भूल ।
बात बात में देखना, जीवन होगा धूल ॥ (२७०)

कर अधर्म सुख चाहते, रेत पैल कर तेल ।
विषय भोग छोड़े नहिं, चाहे शिव बंधु मेल ॥ (२७१)

जहां आँख फूटी हुई, चश्मा दे क्या काम ।
मूर्खों को यदि ज्ञान दो, क्या आता वह काम ॥ (२७२)

मार भले पड़ती रहे, सहे नरक में त्रास ।
तो भी हठ मम अहं का, तजे न, भजे जिन का शाप ॥ (२७३)

बालक लेकर बगल में, खोजा देश विदेश ।
ज्ञायक अपनी शांति को, खोजे देश विदेश ॥ (२७४)

बुद्धि नहिं है गांठ की, हठ करे बे काम ।
समझायो समझे नहिं, ठोक्यां देवे काम ॥ (२७५)

पैर न रखता नीर में, तिरना चाहे नीर ।
श्रद्धा व्रत तप हीन जो, तिर न सके भव नीर ॥ (२७६)

कांटे सी चुभती रहे, कहते उसको शल्य ।
साम्यभाव रहित जो, कैसे हो निःशल्य ॥ (२७७)

कर न सको उपकार तो, कभी न करो अपकार ।
अगर सत्कार न कर सको, तो करो न कभी तकरार ।। (२७८)

कौन थे तुम क्या हुये, यह तो करो विचार ।
कितने दिन से रुल रहे, अब तो चलो उस पार ।। (२७९)

मोह न करो संसार का, शीघ्र चलो उस पार ।
यह संसार असार है, इसमें है क्या सार ।। (२८०)

निज में निज को देख तू, सुनले मेरे भ्रात ।
पर की संगति छोड़ दे, क्या आवेगा हाथ ।। (२८१)

जो जो निज प्रतिकूल है, वह वह पर प्रतिकूल ।
हिंसा चोरी झूठया, पर नारी रस सूल ।। (२८२)

लोभ पाप का बाप है, आशा बड़ी पिशाच ।
जो सच्चा है जगत् में, उसको लगे न आंच ।। (२८३)

पाप कुप भर जायगा, तब फूटेगा संसार ।
कस्तूरी छिपती नहिं, फैले गंध अपार ।। (२८४)

मोह राज को जानिये, है कर्मों का बाप ।
इसका जब अवसान हो, कर्म होय बे बाप ।। (२८५)

जो सबको पीड़ा हरे, जो सबका हो ईश ।
वीतराग सर्वज्ञ हितु, उसे कहो जगदीश ।। (२८६)

दुनिया में शान्ति करे, उसको शंकर जान ।
जो जग को पीड़ा करे, उसको कंकर मान ।। (२८७)

जो युवती के प्रेम मे, रहता है आसक्त।
पूर्ण ज्ञान उनको नहिं, बुद्ध नहिं वह व्यक्त ॥ (२८८)

बड़ी मात–सम छोटी पुत्री, बहिन बराबर की जानो।
बड़े कुलों की रीति यही है पर नारी पर दृष्टि न तानो ॥ (२८९)

कर्म जीव को बांधता, जीव बांधता कर्म।
नाविक नौका की तरह, कहा बन्ध का मर्म ॥ (२९०)

गाय गले में जेवड़ी, बंधी गाय है जान।
रस्सी में रस्सी लगी. गाय बंधी पहचान ॥ (२९१)

कर्म कर्म में बन्ध रहा, जीव फंसा है बीच।
कर्म बन्धे तब जीव भी, कर्म खुले नहिं बीच ॥ (२९२)

कर्म उदय के समय में, जो नहिं रखता शान्ति।
वह निज कषाय से, कर्म बान्धता भ्रांत ॥ (२९३)

अशुभ या शुभ भाव से, कर्म बन्ध हो देख।
क्रम से इनको छोड़ दे, ज्ञायक निज को पेख ॥ (२९४)

कर्म उदय के समय में, जो रहता है शान्त।
वह निज तप से कर्म को, कर देता है शान्त ॥ (२९५)

यदि प्रमाद होता कभी, तो होता है बन्ध।
सावधान जितना रहे, उतना पाप अबन्ध ॥ (२९६)

राग द्वेष से रहित जो, उसको लगे न पाप।
राग द्वेष से सहित जो, उसको लागे पाप ॥ (२९७)

मोह पाप का मूल है, द्वेष पाप की खान।
दुःख कारण से प्रेम जो, करता बन्ध महान् ॥ (२९८)

सतोषी विजय पाता सदा, मन में कर संतोष।
संकट से बच सके वही, जिसके है संतोष ॥ (२९९)

जो मनको रुचती रहे, वह हो जाती है इष्ट।
जो मनको रुचती नहिं, उसको कहे अनिष्ट ॥ (३००)

यदि वस्तु इष्ट है तो, सबको क्यों नहिं इष्ट।
यदि अनिष्ट ही है सदा, तो सबको क्यों न अनिष्ट ॥ (३०१)

वस्तु इष्ट अनिष्ट नहीं, राग द्वेष ये भाव।
मोही अपने आप में, इष्टानिष्ट करता भाव ॥ (३०२)

त्याग-त्याग इस मोह को, इष्टादिक न विचार।
ज्ञायक सुखिया तुम रहो, यह शिक्षा का सार ॥ (३०३)

निश्चित समय न मरण का, क्यों विषयों में मस्त।
त्रिभाग कब आ जायगा, ज्ञात नहिं में मस्त ॥ (३०४)

जो अपने में मस्त है, उसके अघ सब अस्त।
जो अपने में मस्त नहिं, उसके अघ नहिं अस्त ॥ (३०५)

नरभव अनुपम पालिया, यह दुर्लभ कर मान।
आयु तन कब नाश हो; उसका है नहिं ज्ञान ॥ (३०६)

अब भी तू निज धर्म को, साध साध रे साध।
चारों जो आराधना, उनको ले आराध ॥ (३०७)

स्त्री कटाक्ष लुटेरे जो, यदि दीक्षा ले लूट।
तो गृहस्थ रहना भला, यह नीति नहिं कूट ॥ (३०८)

जो नहिं साधे आत्महित, जग को दे उपदेश।
वे तो करछी तुल्य है, पुरसे खांय न लेश ॥ (३०९)

गड़ गड़ बादल गरजते, बरसे मेंह न बूंद।
व्यर्थ गपोड़े हांकते, मूरख आंखें मूंद ॥ (३१०)

जिससे तुझे अशान्ति हो, उसको दे तू छोड़।
बन्धे हुये कर्म बंध को, प्रयत्न पूर्वक दे तोड़ ॥ (३११)

जब जोड़े तब प्रिय लगे, छूटे जब दुःख भरपूर।
अतः सम्पदा सांप से, सिद्ध रहो तुम दूर। (३१२)

कोई न इसको ले गया, कौन कहो ले जाय।
तनका पिंजड़ा छोड़ के, सिद्ध अकेला होय ॥ (३१३)

भोजन, भय, मैथुन तथा, मूर्च्छा घटे न लेश।
तो पशु नर में भेद क्या, सींग पूंछ या केश ॥ (३१४)

बाप रहा न बेटा रहा, न रहे बाप के बाप।
उसे कहें न सराय क्यों, यह बतला दे आप। (३१५)

रह-रह के सब चल दिये, जिसमें अगणित लोग।
उसको क्यों कहते नहिं, घर सराय सब लोग ॥ (३१६)

गलतियां देख न और की, अपनी गलतियां देख।
पर निन्दा को छोड़ दे, अपने को ही देख ॥ (३१७)

ज्ञान खजाना खोल तू, खा खा मत बन ढोल।
आत्म सुधा पीते रहो, आत्म खजाना खोल॥ (३१८)

माला में नहिं मन लगे, लगे भोगों में जाय।
करे उद्यम धर्म का, जन्म व्यर्थ ही जाय॥ (३१९)

चिंता चिता समान है, बिन्दु मात्र विशेष।
चिंता जीवित दे जला, चिता देह जो शेष॥ (३२०)

यदि फ़ेशन छूटी नहीं, क्या शिक्षा से लाभ।
यदि अनंग छूटा नहीं, क्या दीक्षा से लाभ॥ (३२१)

छोड़े सब घर बार पर, फिर भी बने गुलाम।
जो गृहस्थ का दास है, वह सबका गुलाम॥ (३२२)

धन लेकर जो धर्म को, बेच रहे हैं भूल।
रत्न छोड़कर मूढ वे, लेते बदले धूल॥ (३२३)

सप्त तत्व निर्णय करो, अवश्य हो संतोष।
अनुपम शान्ति प्राप्त हो, आवे कभी न रोष॥ (३२४)

सुने न वाणी धर्म की, रोज पढ़े अखबार।
दुनिया को जाने सभी, निज की नहिं संभार॥ (३२५)

करे परिश्रम मूर्ख हो, बालू में नहिं तेल।
फिर भी सुख ही के लिये, जड़ से करता खेल॥ (३२६)

तैंने अपनी भूल से, किया आपको धूल।
तेरी आशा देख ले, तुझको होती शूल॥ (३२७)

कर्म मूल यह मोह है, दुःख मूल है द्रोह।
करता शोक बिछोह है, तजो शीघ्र व्यामोह॥ (३२८)

तन से भी रह नग्न तू, मन से भी हो नग्न।
स्वानुभूति में मग्न हो, पर में मत हो मग्न॥(३२९)

दाव पेंच सब छोड़ दे, कर मत दौड़ा दौड़।
पच पच क्यों मरता अरे, तज दे होड़ा होड़॥ (३३०)

पर से ममत्व छोड़ दे, झंझट सारा छोड़।
हित अपना चाहता तो, विषयों से मुख मोड़॥ (३३१)

जोड़-जोड़ मर जायेगा, संग चलेगा कौन।
यश अपयश रह जायेगा, साथी तेरा कौन॥ (३३२)

हास्य क्रोध भय लोभ से, वचन कभी मत बोल।
मन वचन तन से झूठ तज, कहो न कोई कुबोल॥ (३३३)

पाप तजे परिताप क्यों, धर्म करे शिव होय।
जैसी करनी को करे, भरनी भी वह होय॥ (३३४)

झूंठी पत्तल देख कर, खुशी श्वान हो जाय।
पर नारी को देख के, कामी खुश हो जाय॥ (३३५)

परनारी सेवन करे, सो नर श्वान समान।
झूंठी पत्तल चाटता, पड़े नरक में जान॥ (३३६)

जो नरको का रसिक है, करे व्यसनों में राग।
जो नरको से डरत है, तजे वह नर राग॥ (३३७)

यदि अहिंसा धर्म का, घर घर हो प्रचार।
स्वर्ग सम सुख प्राप्त हो, सुखी होय संसार ॥ (३३८)

जीवन नौका जब डूबती, कौन उतारे पार।
धर्म ध्यान जो आचरे, तो उतरे भव पार ॥ (३३९)

जन्म अकेला आपले, मरे अकेला आप।
सुख दुःख सहता आपही, मुक्ति प्राप्त करे आप। (३४०)

तन जब अपना नहिं, तो पर है अपना कौन।
तन, मन, धनादि सब, सभी अन्य निज कौन ॥ (३४१)

तन यह पावन है नहिं, ज्ञायक आत्माराम।
जो है सो तू परख ले, कौड़ी लगे न दाम ॥ (३४२)

मोह मद्य को पी लिया, विवेकहीन कुज्ञान।
राग द्वेष वश योग से, करता आश्रव अज्ञान ॥ (३४३)

सब मिलता है सहज ही, किन्तु बोधि निधान।
मानव जीवन में कहा, दुर्लभ नर पहिचान ॥ (३४४)

आप्त वही है असल में, जो हितकर सर्वज्ञ।
दोष रहित है इसलिये, जिन वर है सर्वज्ञ ॥ (३४५)

जो समिति पालन करे, वह न पाप से लिप्त।
जैसे जल कण कमल में, रहता सदा अलिप्त ॥ (३४६)

जो भाता व्रत भावना, उसके व्रत नहिं भंग।
जो नहिं भाता भावना, उसके ही व्रत भंग ॥ (३४७)

ज्ञान जहाँ दीपक रहे, समता संगी साथ ।
तप उत्तम बल साथ है, रक्षक गुप्ति सुसाथ ।। (३४८)

सुरपुर सराय शिवमार्ग में, मुनिपद यान सुमान ।
पथिक ज्ञान घन जीव है, वे खटके शिव जान ।। (३४९)

सम्यक दर्शन ज्ञान सम, यह उत्तम शिव मार्ग ।
स्वानुभूति मय जीव यह, पार करे शिव मार्ग ।। (३५०)

क्षायिक श्रद्धा ज्ञान सम, तीनों ही सम्पूर्ण ।
एक समय के बाद ही, कर्म कटे सम्पूर्ण ।। (३५१)

आकुलता परतन्त्रता, वह सुख भी दुःख मान ।
जिसमें आकुलता नहिं, ज्ञान वही सुख खान ।। (३५२)

मूर्खों से अज्ञान का, कभी न होता नाश ।
नहिं तिमिर इस जगत् में, करता कहीं प्रकाश ।। (३५३)

तीन लोक त्रय काल में, करण सौख्य जो होय ।
तो भी शिव पद शान्ति की, उपमा कभी न होय ।। (३५४)

राईसा सुख भोग में, दुःख सुमेरु सम जान ।
कांच खण्ड के कारणे, तजता मूढ निधान ।। (३५५)

कर्मों से तू डूबता, छोड़ उसे हो पार ।
कर्म उदय आवे जहाँ, समता धर हो पार ।। (३५६)

नहीं मूर्ख विद्वान् को, बाधा कारक होय ।
तम प्रकाश का जगत् में, बाधक बने न कोय ।। (३५७)

विधवा, पुत्री, मूर्ख गुरु, दुर्जन संग निवास।
व्यभिचारी नारी मिले, बिना अग्नि दवत्रास ॥ (३५८)

दुर्जन कृतघ्न पापी पुरुष, अग्नि से भी उग्र।
अग्नि सम उनसे बचो, बनो न पर पै उग्र ॥ (३५९)

यदि क्रोध को बुरा जानते, करो क्रोध पर क्रोध।
शत्रु सम इसको जानकर, करो भूल मत क्रोध ॥ (३६०)

जो अपना नहिं हो सके, वह तन किसका होय।
ऐसे तन कृतघ्न का, कैसे भरोसा होय ॥ (३६१)

कभी न तन जड़ ज्ञान हो, न कभी ज्ञान तन रूप।
पृथक पृथक इनको कहा, जग का देख स्वरूप ॥ (३६२)

भ्रम का भूत भगाइये, यही मुक्ति का दूत।
बिना गहे सम्यक्त्व को, पूत सपूत कुपूत ॥ (३६३)

किस दिन मुनि पद को धरें, किस दिन ध्यान निवास।
कब आवे वह दिन महा, हो स्वानुभूति में वास ॥ (३६४)

दोष रहित सर्वज्ञ है, श्री अरहन्त जिनेश।
हित मित वाणी से सदा, जग में ख्याति जिनेश ॥ (३६५)

तेरे हो मग में मिले, मुक्ति लक्ष्मी सुसार।
अनन्त ज्ञान, सुख, वीर्य का, तू ही है भण्डार ॥ (३६६)

सब जीवों को तारता, जिन शासन उत्कृष्ट।
जो नहिं क्रम से चल सकें, उसे न शिव उत्कृष्ट ॥ (३६७)

भेद अभेद स्वरूप है, तत्व अर्थ सब बान।
यदि सर्वथा अन्यतम, गगन कुसुम सब जान॥ (३६८)

स्याद्वाद यदि हो नहिं, नौका अटके बीच।
रस्सी टूटे बीच में, जहाँ हो खींचा खींच॥ (३६९)

पूर्ण ज्ञान केवल कहा, शेष अल्प भी ज्ञान।
जो नहिं जाने आपको, वह कैसे हो ज्ञान॥ (३७०)

सुख हेतु दुःख वे करे, धर्म हेतु कर पाप।
तेल हेतु बालु पिलें, सहे न क्यों संताप॥ (३७१)

पाप किये मुक्ति मिले, अनहोनी क्यों होय।
बिना काटे कर्म के, मुक्ति कैसे होय॥ (३७२)

पाप कमाते जीव वे, करे पाप नहिं दूर।
ऐसे पापी कर्म कर, रहे मुक्ति से दूर॥ (३७३)

सुने पाप वचन जो, करे पाप भरपूर।
उस प्राणी से सुख भी, रहता है अति दूर॥ (३७४)

पाप पुण्य को छोड़ के, करे कर्म अति दूर।
वह दुनिया में जानिबे, सच्चा है वह शूर॥ (३७५)

जैसे को वैसा लखे, मिटै हृदय की भ्रांति।
नहिं कपट अभिमान हो, सुख पावे इस भांति॥ (३७६)

स्याद्वाद की किरण से, हठ तम होता दूर।
समता प्रकाश होता वहाँ, कलह भूत हो दूर॥ (३७७)

जब तक हठ नहिं छोड़ते, तब तक हो समनाश।
जब हठ हो रहता नहीं, झगड़ा होता सब नाश ॥ (३७८)

धर्म अहिंसा रूप है, सत्य रूप आधार।
शील गुप्त बल है क्षमा, शान्ति वहाँ है सार ॥ (३७९)

हित अनहित की परख नहिं, उसको पशु सम जान।
सींग पूंछ पशु के रहे, नर के मूंछ सुजान ॥ (३८०)

स्वत: दोष को कर रहा, पर को देता दोष।
पर पै करना रोष तब, करो रोष पर रोष ॥ (३८१)

नित प्रति ढोता बोझ को, खर कुम्हार का जान।
त्यों नर खर हो नार वश, ढोता भार अजान ॥ (३८२)

फूटे घट सम देह है, खा पीकर ले तोल।
वर्षों का वह अन्न जल, तन में रहा न तोल ॥ (३८३)

मुनिवर बनना ही पड़े, तब होगा निर्वाण।
तो यह नर तन पाय के, करो आत्म कल्याण ॥ (३८४)

कहे आलसी पुरुष यों, करना कल मत आज।
कहे उद्यमी पुरुष यों, कल मत कर तू आज ॥ (३८५)

शुभ अवसर नर जन्म है, मत खो इसको भूल।
यदि साधा नहिं धर्म को, भारी होगी भूल ॥ (३८६)

जिनवर का जो नाम ले, कटे सभी अज्ञान।
कोटि जन्म के पाप का, नाश होय यह जान ॥ (३८७)

आंख मीच कर पूजते, उस देवी को मूढ।
जिसको कुत्ते चाटते, फिर ऊपर देते मूत ॥ (३८८)

छोड़-छोड़ हठ वाद को, तोड़-तोड़ हठ गांठ।
पाप पुण्य सब त्याग दे, धर्म एक निज गांठ ॥ (३८९)

मतलब अपना साध ले, मत रख मन में गांठ।
खाट पड़ा रह जायेगा, आयु बीती साठ ॥ (३९०)

प्रतिमा पत्थर है नहिं, पत्थर प्रतिमा होय।
पार्श्वनाथ के बिम्ब को, पूज रहे खुश होय ॥ (३९१)

जिनवर के बदले यहाँ, जिनवर का प्रतिबिम्ब।
देता है आनन्द अति, भव्यों को प्रतिबिम्ब ॥ (३९२)

तन चेतन के भेद को, बता रही यह देख।
परम शान्त मुद्रा लिये, जरा ध्यान से देख ॥ (३९३)

कर्म काटने के लिये, यह कृपाण है जान।
ऐसा ही निज ज्ञान है, धरले इसका ध्यान ॥ (३९४)

स्वानुभूति रस को पिये, कर्म अंग कर भंग।
रहे सदा निस्संग जो, पड़े न सुख में भंग ॥ (३९५)

यदि उत्तम निज ध्यान से, करे अंग यदि भंग।
तो भी निज रस मग्न है, अनुपम सुखनिः संग ॥ (३९६)

वज्रपात भी होय जो, तो भी शान्ति अपार।
वही ध्यान अविकार है, है वह जग में सार ॥ (३९७)

अनुपम शान्ति आप में, घर घर खोजे मूढ़।
गूढ ज्ञान घन आप है, क्यों न समझे मूढ़ ॥ (३९८)

धन वैभव में फूलता, यह है भारी भूल।
यम की झंझा वायु में, उड़े न क्यों वह फूल ॥ (३९९)

पच पच मरते मूढ जन, चले न कोड़ी संग।
धन कन कंचन ज्ञान बिन, करे रंग में भंग ॥ (४००)

अविरत को भी पाप का, होता है अतिबन्ध।
जो व्रत को धारे सुधी, वह होता निर्बन्ध ॥ (४०१)

दुर्गति व्रती को हो नहिं, सुगति उसे हो प्राप्त।
पुण्य बन्ध होता उसे, क्रम से हो शिव प्राप्त ॥ (४०२)

जाग जाग अब हे सुधी, मोह नींद दे त्याग।
सुखमय अपने ज्ञान में, राग लगाता आग ॥ (४०३)

घर घर घूमे मूढ जन, सुख का मिला न लेश।
सुख तो तेरे पास है, कहते यह जिन देव ॥ (४०४)

संतोषामृत के पान से, शत्रु मित्र समान।
सुख दुःख से अज्ञात हो, राग द्वेष का नहिं भान ॥ (४०५)

शुद्ध स्फटिक समान जो, सर्व गुणों से युक्त।
वही ज्ञानी का ध्येय है, परम कला से युक्त ॥ (४०६)

बिना आतम के ज्ञान के, दुस्तर तप व्रत धार।
वहे भोग सुख भार को, कैसे होता भव पार ॥ (४०७)

पुण्य पाप से रहित जो, भव बली को नाश।
व्यक्ता व्यक्त स्वरूप जो, आप आपके पास॥ (४०८)

अनेकान्त मय वस्तु है, उसके नाना भेद।
हठ से जग में मूढ जन, गहें एक ही भेद॥ (४०९)

यदि अपना हठ छोड़ दें, वस्तु तत्व स्वीकार।
अगर दुराग्रह को लिये, कैसे हो स्वीकार॥ (४१०)

जो अपने ही आत्म में, देखे सिद्ध – स्वरूप।
जग के दुःख जाल से, ज्ञायक चल अरूप॥ (४११)

बार बार अभ्यास कर, चंचलता सब टार।
निश्चय से निज देश ही, अपना है आधार॥ (४१२)

विषय संग परित्याग कर, रहो परम निःसंग।
राग द्वेष कल्लोल तज, प्रकटे परम प्रसंग॥ (४१३)

ध्याता ध्यान चिदेशमय, जब ज्ञायक हो एक।
तब ही समरस भाव हो, जिनवर राखे टेक॥ (४१४)

अनुपम इसका स्वाद है, मुख से कहा न जाय।
जैसे मिश्री स्वाद का, अनुभव कहा न जाय॥ (४१५)

स्वानुभूति से जो इसे, चखता है मतिमान।
उसके परमानन्द मय, सिद्ध प्रगट हो ज्ञान॥ (४१६)

मन चंचलता छोड़ दे, पहिले अक्ष निरोध।
विश्व प्रकाशक सुखनिधि, प्रगटे अनुपम बोध॥ (४१७)

ज्ञान नेत्र को खोल तू, अर्ध मूंद ले नेत्र ।
पर से मींचा नेत्र है, ज्ञान देखता नेत्र ॥ (४१८)

कोटि जन्म में जो नहिं, कट सकते है कर्म ।
समरस ज्ञान स्वभाव से, कटते क्षण में कर्म ॥ (४१९)

सब धर्मों का सार है, समरस सम्यकज्ञान ।
आरम्भ परिग्रह सब तजे, तब हो समरस जान ॥ (४२०)

अनेकान्त मय सिन्धु में, सब दर्शन का नीर ।
भरा हुवा है देखले, हरे वही भव पीर ॥ (४२१)

संकल्प कल्पना से रहित, राग द्वेष को त्याग ।
सदानन्द में लीन हो, सामायिक में जाग ॥ (४२२)

नहि भूत की भावना, नहिं भावी का राग ।
वह सामायिक जान तू, कहीं न हो अनुराग ॥ (४२३)

पाप पुण्य से रहित जो, अनुभव हो निःसंग ।
पर का नहिं गुलाम मन, सामायिक निःशंक ॥ (४२४)

नहिं शोक नहिं हर्ष है, शत्रु मित्र सम भाव ।
वह सामायिक जानिये, वह उत्तम निज भाव ॥ (४२५)

वही मोक्ष का मार्ग है, मोह क्षोभ के हीन ।
ज्ञानी होकर विश्व में, क्यों बनता है दीन ॥ (४२६)

रज तम को तू त्याग के, फिर तज सत् का मोह ।
धर्म धुराधर आप है, ज्ञान रूप निर्मोह ॥ (४२७)

जैसे अग्नि कण यहाँ, दहे दारु का ढेर ।
वैसे सुन्दर ध्यान से, दहे कर्म का ढेर ॥ (४२८)

रहे पद्मिनी पत्र जल, लिप्त न उसमें होय ।
जल में जैसे उपल है, तो भी लिप्त न होय ॥ (४२९)

जैसे ज्ञानी ध्यान से, लिप्त न पर में होय ।
विषय कषाय विहीन जो, पर में मग्न न होय ॥ (४३०)

जैसे वायु मेघ की, सघन घटा विघटाय ।
वैसे योगी ध्यान से, कर्मों को विघटाय ॥ (४३१)

शुक्ल ध्यान उत्तम कहा, जो योगी के होय ।
उससे सारे कर्म वे, क्षण में क्षय तब होय ॥ (४३२)

पढ़े ग्रन्थ अभ्यास कर, तत्वज्ञान कर प्राप्त ।
ग्रन्थों को भी छोड़कर, पाता निज को आप्त ॥ (४३३)

सम्यक दर्शन ज्ञान तथा, सम्यक् जो चारित्र ।
यही मार्ग है मोक्ष का, इससे जीव पवित्र ॥ (४३४)

शुक्ल ध्यान को धार के, मोह आदि को सार ।
रत्नत्रय की पूर्ति से, तत क्षण होता पार ।' (४३५)

बहिरंतर व्यापार को, तजकर योगी राज ।
पाते हैं निर्वाण को, सिद्ध बने सिरताज ॥ (४३६)

मन की कल्लोले मिटे, होता ज्ञान अडोल ।
स्वानुभूति रस प्रकट हो, प्रकटे देव अनमोल ॥ (४३७)

अनन्त गुणों का पुंज है, ज्ञायक ज्ञान स्वरूप।
भेदा भेद स्वरूप यह, युग पद है चिद्रूप ॥ (४३८)

तन को भेद विज्ञान से, करे भिन्न यह जीव।
ब्रह्म द्वार निजज्ञान में, मन हो लीन सदीव ॥ (४३९)

ध्यान नहीं है छूटता, चलते भी यह जान।
यह योगी बतलाइये, तत्व ज्ञान से जान ॥ (४४०)

निष्फल निर्मम शान्त जो, सर्वज्ञ सुभद्र देव।
यही प्रभु भगवान् है, जानो अपना देव ॥ (४४१)

जो ध्याता आनन्द हो, परमानन्द स्वरूप।
अक्षमय को रोककर, रहे ज्ञान चिद्रूप ॥ (४४२)

शौच तप संतोष अरु, स्वाध्याय अष्टांग।
देव स्मरण ये नियम के, पांच कहे है अंग ॥ (४४३)

करे अनुपम ध्यान जो, उसका हो कल्याण।
करे ज्ञान का ध्यान जो, वह पाता निर्वाण ॥ (४४४)

मन की चंचलता हटे, तब कटता है कर्म।
जब कटता है कर्म यह, तब होता है शर्म ॥ (४४५)

अष्टांग योग मुनिवर धरें, मन चंचलता रोक।
पाते हैं निर्वाण को, कर्म कटे क्या शोक ॥ (४४६)

जन्म मरण के दुःख से, जीव मुक्त हो जाय।
जब ज्ञाता यह सुखमयी, शुद्ध रूप हो जाय ॥ (४४७)

अध:पतन अवतार है, नहिं सिद्ध अवतार।
जो रहता संसार में, उसका हो अवतार॥ (४४८)

सर्व धर्म में सार है, जैन धर्म सुखकार।
प्राणी मात्र का है यही, जीवन का आधार॥ (४४९)

बिना अहिंसा सुख नहीं, सुख है शान्ति रूप।
कौन न चाहे शान्ति को, जैन धर्म निज रूप॥ (४५०)

करे शान्ति को भंग जो, वह पाता दु:ख जान।
आत्म धर्म इस शान्ति को, तजे नहीं विद्वान्॥ (४५१)

ठीक ठीक श्रद्धान हो, ठीक ठीक हो ज्ञान।
उसमें क्षोभ रहे नहीं, वही धर्म है मान॥ (४५२)

धर्म शान्तिमय जैन है, इसे चाहते जीव।
जो रखता है शान्ति को, धर्मी है वह जीव॥ (४५३)

आता जाता है नहीं, अपना अपने पास।
खोल अपने बन्ध को, आप आपके पास॥ (४५४)

टांकी के सह घाव को, पत्थर बनता मूर्ति।
वैसे गुरु उपदेश से, जीव बने चिन्मूर्ति॥ (४५५)

टांकी के यदि घाव को, सहता नहिं पाषाण।
मूर्तिमय बनता नहिं, हरगिज वह पाषाण॥ (४५६)

बिना परिषह सहज किये, बिन तप के उत्थान।
हुआ न होगा जानिये, जीवों का कल्याण॥ (४५७)

जो था है ज्ञान घन, चिन्मय चेतनराम ।
कर्म काट मुक्ति बरे, मिले परम आराम ।। (४५८)

आत्म खजाना खोल तू, मत बन अब तू चोर ।
नहिं चाह पर वस्तु की, फिर नहिं रहता चोर ।। (४५६)

पर वस्तु की चाह से, हुआ जगत् का चोर ।
पर वस्तु तो पर ही रहे, है क्या तेरा जोर ।। (४६०)

कर्म और तू और है, द्रव्य कर्म जड़ जान ।
रागादिक चैतन्य के, विकार भाव है जान ।। (४६१)

पर की मन में चाह हो, तब विकार हो जाय ।
जब ममता है ही नहिं, बन्धन क्यों हो जाय ।। (४६२)

जब बन्धन होता नहिं, खुलता ही वह जाय ।
जब बन्धन रहता नहिं, तुरंत मोक्ष को जाय ।। (४६३)

ममता तज समता धरो, बनो मुक्ति के ईश ।
सुर असुर सबके झुके, उनके चरणों शीश ।। (४६४)

उद्यम को करते रहो, उद्यम से निर्वाण ।
बिना धर्म पुरुषार्थ के, नहिं होता निर्वाण ।। (४६५)

जिस पथ में जाना नहिं, उसका मत ले नाम ।
हिम्मत कभी न हार तू, ले जिनवर का नाम ।। (४६६)

करे न जो पुरुषार्थ को, होणी के गुण गाय ।
उद्यम से ही शिवसुख मिले, यह निश्चय उरलाय ।। (४६७)

जहाँ सर्वथा हठ रहे, वहां नहिं स्याद्वाद।
जहाँ सर्वथा वाद नहिं, वहां भानु स्याद्वाद॥ (४६८)

अहंकार ममकार से, मरे जगत् के जीव।
सम तुष्टि को प्राप्त करे, तो मुक्त हो जावे जीव॥ (४६९)

तेरा तेरे पास है, मत कर पर की आश।
आशा को जो छोड़ता, उसकी विघटे पाश॥ (४७०)

पक्षपात को छोड़ दे, रहो सदा निष्पक्ष।
जो भी सच्ची बात हो, उसका रक्खो पक्ष॥ (४७१)

जितना मम या मोह है, उतना जानो अधर्म।
जितना तुझको क्षोभ है, उतना ही है अधर्म॥ (४७२)

सम्यक श्रद्धा से नहिं, होता है सुन बन्ध।
राग द्वेष से ही कहा, मुख्य रूप से बन्ध॥ (४७३)

रत्नत्रय अनमोल है, कर्म बन्ध को खोल।
अवसर पर तू अड़िग रह, मत हो डांवा डोल॥ (४७४)

थोड़ी भी यदि अग्नि हो, जले अवश्य ही काष्ट।
थोड़ा भी यदि धर्म हो, जले कर्ममय काष्ट॥ (४७५)

क्षायिक हो सम्यक्त्व जब, क्षायिक हो जब ज्ञान।
क्षायिक जब चारित्र हो, कर्म जले अरु निर्वाण॥ (४७६)

तन शरीर जड़ रूप है, तू है ज्ञान स्वरूप।
सिद्ध सिद्ध अनुभव करे, सिद्ध रूप चिद्रूप॥ (४७७)

घर घर मंगल गीत नहिं, घर घर हास्य न होय।
देख दशा यह जगत् की, क्यों वैराग्य न होय॥ (४७८)

धर्मी जन इस धर्म को, कभी न जाना भूल।
भोग रहे जो महल में, संध्या में हो धूल॥ (४७९)

पर उपकार न छोड़ तू, स्थिर तन है कौन।
उदय हुआ है सूर्य था, अस्त न होता कौन॥ (४८०)

दान करो धन काम लो, सुख में न जाना भूल।
जो जीते हैं सुख से आज, कल वे मिलते धूल॥ (४८१)

पड़ मत इन्द्रिय जाल में, यह दुःखदाई जान।
प्रातः सुख से जो रहे, वे संध्या कोम्लान॥ (४८२)

कभी धर्म को छोड़ मत, आवे कोई न साथ।
देख जगत् के दृश्य को, अपना खेंचो हाथ॥ (४८३)

तन तेरा यह फूंक कर, घर जाते सब लोग।
कौन जलेगा साथ में, क्या कुटुम्ब क्या लोग॥ (४८४)

ऐसा करले कार्य तू, जिससे रहे कीर्ति।
अगर विषय में फंस जायगा, रहे सदा अपकीर्ति॥ (४८५)

रोना धोना छोड़ तू, पर से मुख ले मोड़।
आयु का जब अन्त हो, बचा न सके कोय॥ (४८६)

कौन साथ में ले गया, कौन साथ ले जाय।
रोने में ही मूढ की, पूरी आयुष जाय॥ (४८७)

रोता है जड़ के लिये, जड़ बुद्धि वह मूढ।
देता है धन दान जो, वह दाता क्यों मूढ ॥ (४८८)

जो नहिं देता दान में, उसको लूटे चोर।
जो देता है दान में, कैसे लूटे चोर ॥ (४८९)

दु:खीजनों को दान दे, कर पूजा नित भोर।
एक दिवस भी मत गमा, नहिं तो फेर करेगा सोर ॥ (४९०)

जर जोबन जीवन मरण, धन दारिद्रय कुटुम्ब।
रे मन ! इस संसार में, मतलब के हैं कुटुम्ब ॥ (४९१)

व्रत पूजा तप दान जो, करें नहिं जो लोग।
जिन्दे भी वह मृतक हैं, सहें कर्म के भोग ॥ (४९२)

मद कषाय न छोड़ते, विषयों में कर राग।
जिन्दे भी मृत तुल्य हैं, मानव कुल के दाग ॥ (४९३)

व्यसन नहिं जो छोड़ते, वे हैं मृतक समान।
व्यसनी का इस जगत् में, घट जाता सम्मान ॥ (४९४)

दान पूजा में रक्त जो, संयम धारे सार।
शक्ति सम तप आचरे, सुख पावे वह अपार ॥ (४९५)

जो करता अन्याय को, लेता है धन लूट।
उसको नरक निगोद में, कौन नीर दे घूंट ॥ (४९६)

शिशु तरुण या वृद्ध तू, अपने को न जान।
यह तन के है जान तू, निजको ज्ञायक मान ॥ (४९७)

जो देता नहिं दान को, वह पाता नहिं मान।
जो धन को है मांगते, वे भी मृतक समान॥ (४९८)

दया करो व्रत पाल लो, करो धर्म भरपूर।
मरना होगा एक दिन, तन से चेतन दूर॥ (४९९)

दुःखियों का दुःख दूर कर, कर जिन पर विश्वास।
चिदानन्द अनुभव करो, तन का क्या विश्वास॥ (५००)

बने धर्म का दास जो, उसके हो सब दास।
जो अधर्म का दास है, वह जगत् का दास॥ (५०१)

दुर्लभ है संसार में, मानव जीवन सार।
उससे भी दुर्लभ अति, बोधि समाधि सार॥ (५०२)

यदि देती सुख संपदा, क्यों त्यागी भगवान्।
तीर्थंकर क्यों त्यागते, यदि स्थिर लेते जान॥ (५०३)

नहिं रही कायम कहीं, यह लक्ष्मी मति मान।
तन भी चंचल जान तू, तज इसका अभिमान॥ (५०४)

मन तस्कर को रोक तू, वश कर इन्द्रिय भूत।
ज्ञायक का अनुभव करो, यही मुक्ति का दूत॥ (५०५)

हर्ष विषाद करके बना, परवश मूढ अजान।
जो परवश होता नहिं, वह है सिद्ध समान॥ (५०६)

रूप दिगम्बर धार तू, तन धन विपिन समान।
सुख दुःख सभी समान हो, वैरी मित्र समान॥ (५०७)

आत्म धर्म की हानि को, कभी न कर तू मूढ।
जिनवर ने जिसको कहा, वही धर्म भज गूढ ॥ (५०८)

परिजन धन के वास्ते, धर्म अपना न हार।
जो हारेगा धर्म को, तो निश्चय होगी हार ॥ (५०९)

घर कुटुम्ब का मोह तज, यह पहुंचाता नर्क।
व्यर्थ परिग्रह लोभ में, क्यों होता है गर्क ॥ (५१०)

तन धन सारे क्षीण हो, कला चन्द्र की जान।
जो कायम रहते नहिं, उन्हें अनित्य पहिचान ॥ (५११)

धर्म जन का चोर है, इन्द्रिय तस्कर जान।
इसे छोड़े सुख अचल हो, उसे सुख बहु जान ॥ (५१२)

आकुल व्याकुल हो रहा, क्यों रोता रे मूढ।
तत्वज्ञान निज धर्म से, मिले सौख्य निज मूढ ॥ (५१३)

ज्यों ज्यों वस्तु चाहता, होती त्यों त्यों दूर।
ज्यों ज्यों घटती लालसा, त्यों त्यों सुख भरपूर ॥ (५१४)

जितना पर में प्रेम है, उतना निज में होय।
परम पुरुष परमात्मा, आप सिद्ध वह होय ॥ (५१५)

इधर उधर क्यों भटकता, घर करके तू लोभ।
छोड़ उसे घर धर्म को, रहे न कोई क्षोभ ॥ (५१६)

छोड़ चले वह संत है, मरे छूटता आप।
प्रेमी जो धन आदि का, वह होता है सांप ॥ (५१७)

दश दिशा में क्यों दौड़ता, करे न क्यों संतोष।
पुण्य बिना क्या भर सके, तेरे धन के कोष॥ (५१८)

पाप पुण्य को छोड़ दे, जब आवे संतोष।
अशुभ और शुभ त्याग दे, रहे शुद्ध वैराग्य॥ (५१६)

क्यों ज्वाला में पड़ रहा, करे न क्यों तू धर्म।
यदि तजेगा पाप को, तो तुझे मिलेगा शर्म॥ (५२०)

पुत्र मित्र कलत्र हित, पच पच करता मूढ।
हित अनहित जाने नहिं, अहित करे वह मूढ॥ (५२१)

यश नहि आता साथ में, ज्ञायक है तू सिद्ध।
सिद्ध सिन्धु सुख रूप है, नहिं क्लेश हो सिद्ध॥ (५२२)

जो अपने में मस्त है, वह परसे होता अस्त।
हिम्मत पस्त न हो कभी, सिद्ध रहो तुम मस्त॥ (५२३)

जग की माया में क्यों फंसे, तजकर हो मुनिराज।
छोड़ ममत्व कुटुम्ब का, हो सबका सिरताज॥ (५२४)

जिन्दे भी हैं मृतक सम वे, जो व्यसनी लोग।
मिथ्या मग में चल रहे, वे है पापी लोग॥ (५२५)

पर को दु:ख देकर अरे, क्या मनावे हर्ष।
फल जब उदय में आयगा, फिर रोवे करोड़ों वर्ष॥ (५२६)

आयु का जब अन्त हो, सब से होय बिछोह।
फिर तू क्यों घबड़ा रहा, कर कुटुम्ब से मोह॥ (५२७)

मरे कुटुम्ब रोता रहे, बांधे कर्मों का बन्ध।
रोने से क्या लाभ है, छूटे सब सम्बन्ध॥ (५२८)

क्षमा तुल्य कोउ तप नहीं, सुख सन्तोष समान।
नहिं तृष्णा सम व्याधि है, धर्म समान न आन॥ (५२९)

संचय मत कर लोभ तज, कर भाग्य पर विश्वास।
जिनको धन में विश्वास है, उन पर क्या विश्वास॥ (५३०)

अगनि चोर भूपति विपत्ति, डरत रहे धनवान।
निर्धन नींद निसंक ले, मानत काकी हान॥ (५३१)

गनिका जोगी भूमिपति, बानर अहि मंजार।
इनते राखे मित्रता, परै प्रान उरझार॥ (५३२)

वमन करे ते कफ मिटै, मरदन मेटे बात।
स्नान किये ते पित मिटै, लंघन ते जुर जात॥ (५३३)

पाप जान पर पीड़वो, पुण्य जान पर उपगार।
पाप बुरो पुन है भलो, कीजे राखि विचार॥ (५३४)

प्रथम धर्म पीछे अर्थ, बहुरि काम को सेय।
अन्त मोक्ष साधे सुधी, सो अविचल सुख लेय॥ (५३५)

चेतन तुम तो चतुर हो, कहा भये मति हीन।
ऐसो नरभव पायके, विषयनि में चित दीन॥ (५३६)

पवन थकी देवन थकी, मन की दौर अपार।
बूड़े जीव अनन्त हैं, याकी लागे लार॥ (५३७)

ममता बेटी पाप की, नरक सदन ले जाइ।
धर्म सुता समता जिको, सुरग मुकति सुखदाय ॥ (५३८)

जो पढ़ि करै न आचरन, नाहिं करे सरधान।
ताको भणि बौ बौलिबो, काग वचन प्रमान ॥ (५३९)

बुरे दिन में न भाई और न जाया काम आता है।
फकत् अपना कमाया और बचाया काम आता है ॥ (५४०)

मनुज जनम दुरलभ अहै, होय न दूजी बार।
पक्का फल जो गिर गया, फेर न लागै डार ॥ (५४१)

तीन लोक का नाथ तूं, क्यों बन रहा अनाथ।
रत्नत्रय निधि साथ ले, क्यों न होय जगन्नाथ ॥ (५४२)

दुःख सहो दारिद्र सहो, सहो लोक अपवाद।
पर निन्द्य काम तुम मत करो, करोड़ ग्रन्थ का सार ॥ (५४३)

जैसी करनी आचरे, तैसो ही फल होय।
इन्द्रायन की बेलके, आंब न लागे कोय ॥ (५४४)

आदि अन्त बिस धर्म सों, सुखी होय सब जीव।
ताको तन, मन, वचन करी, हे नर सेय सदीव ॥ (५४५)

जल बाढे ज्यों नाव में, घर में बाढे दाम।
तो दोनूं हाथ उलीचिये, यही सज्जन का काम ॥ (५४६)

आधी तो लूखी भली, पूरी में संताप।
जे तू चाहे चोपड़ी तो, भाई तने करणो पड़सी पाप ॥ (५४७)

मुझमें तुझमें भेद यों, और भेद कछु नाहीं।
तुम तन तज पर ब्रह्म भय, हम दुखिया तन माहीं ॥ (५४८)

आयुहीन नर को जथा, औषधि लगे न नेश।
त्यों ही रागी पुरुष प्रति, वृथा धरम उपदेश ॥ (५४९)

पापी दुष्टी जीव को, जिनवाणी न सुहाय।
के ऊंगे, के लड़ मरे, के उठ घर को जाय ॥ (५५०)

जितने तारे गगन में, उतने शत्रु होय।
बाल न बांका कर सके, यदि देव अनुकूल होय ॥ (५५१)

जगत् चबीना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।
विषय सुखन के राज में, मूरख माने मोद ॥ (५५२)

सदा संतोष कर प्राणी, जो सुख से रहा चाहे।
घटा दे मन की तृष्णा को, जो दुःख से बचा चाहे ॥ (५५३)

तप करता यौवन गयो, द्रव्य गयो मुनि दान।
सन्यास करता जीवन गयो, तो तीनु गये न जान ॥ (५५४)

साधु का घर दूर है, जैसे पेड़ खजूर।
चढे तो मेवा मिले, नहीं तो चकनाचूर ॥ (५५५)

सुलझे पशु उपदेश सुन, सुलझे क्यों न पुमान।
नाहर से भय वीर जिन, गज पारस भगवान् ॥ (५५६)

निज परिणती जब शुद्ध है, क्या कर सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग ॥ (५५७)

पाप कर्म का डर नहीं, नहीं लोक की लाज।
कामी जन की रीति यह, धिक् तिस जन्म अकाज ॥ (५५८)

अपनासा दुःख जानकर, जो न दुःखावे आन।
वे सदैव सुखिया रहे, यह वाणी भगवान् ॥ (५५९)

सद्गुरु की महिमा अगम है, को कर सके बखान।
ज्ञान नेत्र जो खोलते, पहुंचाते शिवथान ॥ (५६०)

गुरु समान संसार में, मात पिता सुत नाहीं।
गुरु तारे संसार से, वे डाले दुःख मांही ॥ (५६१)

कम खाना कम सोवना, कम दुनियां से प्रीत।
कम कहना मुख से वचन, यही साधु की रीत ॥ (५६२)

काय पाय कर तप नहीं किना, आगम पढ नहीं मिटी कषाय।
धन पायकर दान नहीं दीना, क्या कारज तू कीना आय। (५६३)

पारसमणि अरु संत में, भारी अंतर जान।
वह लोहा सोना करे, वे करें आप समान ॥ (५६४)

खोटी संगति मत करो, पकड़ो गुरु का हाथ।
करो निरन्तर दान पुनि, लखो अथिर संसार ॥ (५६५)

कदली सीप भुजंग मुख, स्वाति एक गुण तीन।
जैसी संगति बैठिये, तैसो ही गुण लीन ॥ (५६६)

कीचड़ में कंचन पड़्यो, काई लगे न ताहि।
लोह पड़्यो गल जात है, थोड़े करदम मांहि ॥ (५६७)

भाग्य भरोसे बैठे रहना, यह वीरों का काम नहीं।
भोजन की थाली से मुंह में, आ सकता क्या ग्रास कहीं ॥ ५(६८)

तृप्तकर आसाओं को जो, शांति पाना चाहता है।
नीरभर चलनी में मानो, प्यास बुझाना चाहता है ॥ (५६९)

जिसमें जितनी बुद्धि है, उतना देय बताय।
उसका बुरा न मानिये, और कहां से ल्याय ॥ (५७०)

दुष्ट भलाई ना करे, कोट न किये उपकार।
सर्प न दूध पिलाइये, विष ही के दातार ॥ (५७१)

सुख दुःख संकट विपत्त में, रण में दुर्गम पंथ।
जपो मंत्र नवकार नित, सब विघ्नों का अंत ॥ (५७२)

कर्मों के वश जीव हैं, जहं खेंचे तहं जाय।
ज्योंही नचावे नाच त्यों, देख्यो त्रिभुवन राय ॥ (५७३)

जैसे परवश वेदना, जीव सहे बहु भाय।
स्ववश जो सहे अंश हूं, तो-भवदधि तर जाय ॥ (५७४)

आये थे तुम जगत् में, जगत् हँसा तुम रोय।
अब ऐसी करनी करो, फिर ना हाँसी होय ॥ (५७५)

करणी कर कथनी करी, ऋषभनाथ भगवान्।
कथनी कर करणी करे, वे विरला अब जान ॥ (५७६)

तन रोगों की खान है, भोग दुःखों की खान।
ज्ञान सुखों की खान हैं, इनको तूं पहिचान ॥ (५७७)

पुत्र वही पितु भक्त जो, पिता वही प्रतिपाल ।
नारी वही जो पतिव्रता, मित्र वही दिलमाल ।। (५७८)

धर्म किये सुख होत है, धर्म किये सुर होय ।
धर्म किये शिवपुर बसे, धर्म समान न कोय ।। (५७९)

अन्त समय कुछ ना बने, धर्म धारिये आज ।
आग लगे फिर कूप को, खोदन सरे ना काज ।। (५८०)

धिक् है ऐसी दौलत पर, जो दुर्जन करदे सज्जन को ।
लानत है ऐसी पदवी को, जो मिट्टी करदे जीवन को ।। (५८१)

आज काल करता रहा, किया न निज उद्धार ।
जरा अवस्था आ चुकी, अब तो करो विचार ।। (५८२)

जो सब साधन पायकर, धारे नहीं हैं धर्म ।
वो अनेक भव में भ्रमें, फूट गया तिस कर्म ।। (५८३)

धन धरा के बीच में, सभी धरा रह जाय ।
मृत्यु का दिन आय जब, कोई ना संग में जाय ।। (५८४)

दीपक में ज्यों तेल है, बीत्यो पल पल जाय ।
करना है सो जल्दी कर, तन भस्मी हो जाय ।। (५८५)

स्वांस–स्वांस पर प्रभु भजो, वृथा स्वांस मत खोय ।
न जाने फिर स्वांस का, आना होय ना होय ।। (५८६)

कनक पात्र बोले नहीं, कांसो करे झनझनाट ।
बड़े पुरुष बोले नहीं, हीन करे कललाहट ।। (५८७)

मानुष की रसना विषे, विष अरु अमृत होय ।
भली कहे बच जाय है, बुरी कहे दुःख होय ॥ (५८८)

शील रत्न सबसे बड़ा, सब रत्नों की खान ।
तीन लोक की सम्पदा, रही शील में आन ॥ (५८९)

समय पाय चूको नहीं, कर डारो निज कार ।
ऋतु के बोय बीज का, उपजे धान्य अपार ॥ (५९०)

पर नारी पैनी छुरी, तीन ठौर से खाय ।
धन छीन यौवन हरे, मरे नरक ले जाय ॥ (५९१)

पर नारी पैनी छुरी पांच ठौर से खाय, धन छीन, यौवन हरे
पत पंचा में जाय ।
जीवित काडे कालजा, मरे नरक ले जाय ॥ (५९२)

चाह गई चिन्ता मिटी, मनवा बेपरवाह ।
जाको कछु ना चाहिये, सो ही शांह पति शाह ॥ (५९३)

आये कुछ लाये नहीं, गये न कुछ ले जाय ।
बिच पायो बिच हो नश्यो, चिन्ता करे बलाय ॥ (५९४)

ज्ञानी ध्यानी महात्मा, वक्ता शूर अनेक ।
मिले बहुत से जगत् में, सच्चरित कोई एक ॥ (५९५)

रहो जगत् में न माया में, फंसो निज बुद्धिमानी से ।
ज्यों पानी में रहकर भी, पृथक है कमल पानी से ॥ (५९६)

तनको भूख जो है तनिक, तीन पाव या सेर ।
मनकी भूख अपार है, चाहे मिलो सुमेर ॥ (५९७)

तन पवित्र सेवा किये, धन पवित्र कर दान।
मन पवित्र प्रभु भजन से, त्रिविध होत कल्यान ॥ (५६८)

चेतन चित्त परिचय बिना, जप तप सबै निरत्थ।
कण बिन तुष जिमि फटकते, कछु न आवे हत्थ ॥ (५६६)

मित्र क्षमा सम जगत् में, नहीं जीव को कोय।
अरु वैरी नहीं क्रोध सम, निश्चय जानो लोय ॥ (६००)

हित मित प्रिय वचन, सरस कहो मुख खोल।
या फिर मौन रहो सदा, यह शिक्षा अनमोल ॥ (६०१)

इक कंचन इक कामिनी, दुर्लभ घाटी दोय।
पार करे जो गुणीजन, शान्त सुखी वह होय ॥ (६०२)

जिससे नीत बनी रहे, बन आवे प्रभु नाम।
सो तो दारिद्र ही भलो, या बिन तन बे काम ॥ (६०३)

क्या लाया ले जायगा, धरा रहे धन धाम।
करदे दान जु द्रव्य का, यहां रहेगा नाम ॥ (६०४)

मान नहीं माया नहीं, नहीं नाम की चाह।
वही गुप्त भंडार में, डाले द्रव्य अथाह ॥ (६०५)

दिन जु ज्येष्ठ वैसाख के, पोष माघ की रात।
तत्वज्ञान अभ्यास बिन, वृथा खोवो भ्रात ॥ (६०६)

अंधकार है वहां जहां, आदित्य नहीं है।
है वे मुर्दा लोग, जहां साहित्य नहीं है ॥ (६०७)

रोगी, सोगी, आलसी, बहमी, हठी, अज्ञान।
ये गुण मिथ्या दृष्टि के, सदा रहत भगवान ।। (६०८)

जीव जुदा पुद्गल जुदा, यही तत्व का सार।
अन्य जो व्याख्यान है, इस ही का विस्तार ।। (६०९)

तकदीर संवरते देर नही तकदीर पलटते देर नहीं।
कर्मों का फल सब भोगोगे, है देर मगर अंधेर नहीं ।। (६१०)

ऋषियों मुनियों की सीख यही, शास्त्रों में भी यह बात कही।
बिन मांगे मोती मिलते हैं, मागे से मिलती भीख नही ।। (६११)

सब मुट्ठी बांधे आते हैं, सब हाथ पसारे जाते हैं।
जग मरघट तक का साथी है, पीछे यश, अपयश रह जाते हैं ।। (६१२)

मत सिर पीटो मत हाथ मलो, थोड़ा यथार्थ के पास चलो।
अपना कर्त्तव्य किये जावो, दीपक सम तुम दिन-रात जलो ।। (६१३)

हर लहर हवा जो आती है, कुछ जीवन कण पी जाती है।
यह काल लहर किसका साथी, जगती पीछे पछताती है ।। (६१४)

प्रगति नहीं पुरुषार्थ बिन, नहीं सेवा बिन त्याग।
शील बिना समृद्धि नहीं, नहीं श्रद्धा बिन राग ।। (६१५)

ऊंच नीच कर्त्तव्य से, गुरु लघु ज्ञान विधान।
सुख दुःख दैनिक कर्म फल, भाग्य सदा बलवान ।। (६१६)

विनय रहित विद्यार्थी, शील रहित नर – नार।
शासक नैतिक बल रहित, सहत सदा धिक्कार ।। (६१७)

सांचा सुख आरोग्यता, सम्पत्ति सांचा ज्ञान।
सांचा मित्र सुशीलता, समता सांचा ध्यान॥ (६१८)

आयु घटत है रात-दिन, ज्यों करोत से काठ।
हित अपना जल्दी करो, पड़ा रहेगा ठाठ॥ (६१९)

रात गंवाई सोय कर, दिवस गंवाया खाय।
हीरा जन्म अमोलथा, कोड़ी बदले जाय॥ (६२०)

मन तूं सड़े शरीर में, क्या मानत सुख चैन।
जहां नगारे कूच के, बाजत है दिन रेन॥ (६२१)

प्रभुता सब कोई चहे, प्रभु को चहे ना कोय।
जो प्रभु की भक्ति करे तो, प्रभुता चेरी होय॥ (६२२)

आये जो जो ना रहे, क्या हनुमत क्या राम।
तुम कैसे रह जावोगे, मूढ पाप के धाम॥ (६२३)

माया सगो न तन सगो, सगो नहीं परिवार।
सद्गुरु कहे या जीवको, सगो है धर्म विचार॥ (६२४)

जीभ बिचारी कह गई, छिन में सुरग पाताल।
आप तो कह भीतर गई, जुता खात कपाल॥ (६२५)

दो बातों को भूल मत, जो चाहे कल्याण।
"सिद्ध सिन्धु" इक मोक्ष को, दूजे श्री भगवान्॥ (६२६)

पाय विपुल धन जो करे, दुःखित जनों की याद।
वह जीता है जगत् में, मरने के भी बाद॥ (६२७)

साधु समागम प्रभु भजन, जग में दुर्लभ दोय।
सुत दारा और लक्ष्मी, पापी के भी होय॥ (६२८)

घर की शोभा धन महा, धन की शोभा दान।
सोहे दान विवेक से, छिमा विवेक प्रधान॥ (६२९)

यह संसार असार है, कदली वृक्ष समान।
या सों सार पना लखै, सो मूरख परवान। (६३०)

एक दिन अनमोल तन, बिक जायगा मिट्टी के मोल।
जग में रह जायेंगे बाकी, प्यारे तेरे अनमोल बोल॥ (६३१)

सम्यक को धारण करो, मूल मंत्र यह जान।
भव भव के बन्धन कटे, ये ही तीर्थ महान्॥ (६३२)

पानी पीवो छानकर, रोग निकट नहीं आय।
लोग कहे धरमात्मा, जीव जन्तु बच जाय॥ (६३३)

विषयी सुख का लम्पटी, सुनकर अध्यातमवाद।
त्याग धर्म को त्यागकर, करे साधु अपवाद॥ (६३४)

अरे जीव भव वन विषे, तेरा कौन सहाय।
काल सिंह पकरे तुझे, तब को लेत बचाय॥ (६३५)

नित्य आयु तेरी झरे, धन पेला मिल खाय।
तू तो रीता ही रहा, हाथ झूलाता जाय॥ (६३६)

बहुत गई थोड़ी रही, मन में करो विचार।
अब तो भूल से डुबना, निपट नजीक किनार॥ (६३७)

जैसे पिछले मर गये, तैसे तेरा काल।
काहे को भया न चिन्त है, करता क्यों न संभाल॥ (६३८)

पड़ी रहेगी सम्पदा, धरी रहेगी काय।
यतन करके क्यों ना बचो, काल झपट ले जाय॥ (६३९)

निशि सूते संपत्ति सहित, प्रातः हो गये रंक।
सदा रहे ना एकसी, रहे ना किसी की बंक॥ (६४०)

धन्धा करता फिरत है, करत न अपना काज।
अपनी झूंपड़ी जलत है, पर घर करत इलाज॥ (६४१)

विषय भोग भोगत रहे, किया न आत्म उपाय।
गांठ खाय रीते चले, हठवारे में आय॥ (६४२)

देहधारी बचता नहीं, सोच का करिये भ्रात।
तन तो तज गये राम से, रावण की क्या बात॥ (६४३)

जग में मीठे वचन सों, सुख उपजत चहुं ओर।
वशीकरण यह मंत्र है, परिहरो वचन कठोर॥ (६४४)

चोर सदा चौरी करे, सहे सदा आघात।
इधर-उधर छिपते फिरे, दुःख पावे दिन-रात॥ (६४५)

सेय पराई नार को, तन, मन, धन को खोत।
फिर भी सुख मिलता नहीं, मरे भयानक मोत॥ (६४६)

जोड़ जोड़ संचय करे, ममता दुःख का भार।
मरना सबको एक दिन, समता सुख आधार॥ (६४७)

बोली बोल अमोल है, बोल सके तो बोल।
हिये तराजू तोल कर, पीछे बाहिर खोल॥ (६४८)

शब्द समारे बोलिये, शब्द के हाथ ना पांव।
एक शब्द औषधि करे, एक करे पर घाव॥ (६४९)

जहां इन्सान झुकता है, वहां भगवान् बसता है।
जहां भगवान् बसता है, वहां मनुजत्व हँसता है॥ (६५०)

तन, मन, धन से कीजिये, निशदिन पर उपकार।
यही सार नर देह में, वाद विवाद बिसार॥ (६५१)

श्रम नाशत दरिद्रता, संयम नाशत रोग।
शिक्षा नाशत हीनता, आयुष नाशत भोग॥ (६५२)

ममता बिन माता नहीं, समता बिन नहीं संत।
क्षमता बिन नहीं क्षेम है, श्रम बिन नहीं श्रीमंत॥ (६५३)

यदि मन तेरा निर्ग्रन्थ, है, तो तूं भी है निर्ग्रन्थ।
मन निर्ग्रन्थ हुये बिना, लगे नहीं शिव पंथ॥ (६५४)

ज्यों मन विषयों में रमे, त्यों हो आत्म लीन।
शीघ्र ही शिव सम्पत्ति वरे, क्यों भव भ्रमे नवीन॥ (६५५)

लोभ मूल सब पाप का, दुःख को मूल स्नेह।
मूल अजीरण व्याधि को, मरण मूल यह देह॥ (६५६)

पूरन घट बोलत नहीं, अरध भरा छलकंत।
गुनी गुमान करे नहीं, निर्गुनी मान करंत॥ (६५७)

धूप छांह ज्यों फिरत है, सम्पत् विपत् संजोय।
हर्ष शोक कर फंसत क्यों, मूढ अज्ञानी लोय ॥ (६५८)

छोड़ छोड़ हठवाद को, तोड़ तोड़ इठ गांठ।
मोड़ मोड़ निज को सुधी, बन्धे धर्म की गांठ ॥ (६५६)

गुरु होकर जो परमगुरु, तजे जगत् की आस।
यदि कुछ भी आशा रही, वह दासों का दास ॥ (६६०)

ज्यों रज लिपटे देहसों, सचिक्कण को पाय।
त्यों रागादि के योगते, कर्म बन्ध हो जाय ॥ (६६१)

द्रव्य रूप करि सर्व थिर, परजै थिर है कौन।
द्रव्य दृष्टि आपा लखो, पर्यय नय करि गौन ॥ (६६२)

जग में शरण दोय, शुद्धातम अरु पंच गुरु।
आन कल्पना होय, मोह उदय जियकै वृथा ॥ (६६३)

पर द्रव्य नते प्रीति जो, है संसार अबोध।
ताको फल गति चार में, भ्रमण करयो श्रुतशोध ॥ (६६४)

परमारथते आत्मा, एक रूप ही जोय।
कर्म निमित्त विकल्प घनें, तिनि नाशे शिव होय ॥ (६६५)

अपने अपने सत्व कूं, सर्व वस्तु विल साय।
ऐसे चितवै जीव तब, पर तैं ममता न थाय ॥ (६६६)

निर्मल अपनी आत्मा, देह अपावन गेह।
जानि भव्य निज भावको, यासों तजो स्नेह ॥ (६६७)

आतम केवल ज्ञानमय, निश्चय दृष्टि निहार।
सब विभाव परिणममय, आस्रव भाव विडार॥ (६६८)

निज स्वरूप में लीनता, निश्चय संवर जानि।
समिति – गुप्ति – संयम – धर्म, करे पाप की हानी॥ (६६९)

संवरमय है आत्मा, पूर्व कर्म झड़ जाय।
निज स्वरूप को पायकर, लोक शिखर जब थाय॥ (६७०)

लोक स्वरूप विचार के, आतम रूप निहारि।
परमारथ व्यवहार मुणि, मिथ्या भाव निवारि॥ (६७१)

बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं।
भव में प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं॥ (६७२)

दर्श ज्ञानमय चेतना, आतम धर्म बखानि।
दया क्षमादिक रतनत्रय, यामें गर्भित जानि॥ (६७३)

ऐसे भावे भावना, शुभ वैराग्य जु पाय।
ध्यान करें निज रूप को, ते शिव पहुंचे ध्याय॥ (६७४)

अशुभ क्रोध आदिक तजो, दया क्षमा शुभ धारि।
शुद्ध भाव में लीन हैं, कर्म–पाश निरवारि॥ (६७५)

जो ग्रह त्यागी होय, सम्यग् रत्नत्रय बिना।
ध्यान योग्य नहीं सोय, गृह वासी फिर क्या कथा॥ (६७६)

रत्नत्रय को धारजे, शम–दम–यम चित्त देंय।
ध्यान करें मन रोकिकै, धन मुनि शिस लेंय॥ (६७७)

सम्यक्दर्शन पायके, ज्ञान विशेष बढाय।
चारित्र की विधि जानके, लागे ध्यान उपाय॥ (६७८)

रागादिक निश्चय कही, व्यवहारे पर घात।
हिंसा त्यागैं जो जती, मेटैं सब उत्पात्त॥ (६७९)

सत्य वचन संसार में, करे सकल कल्यान।
मुनि पालै पूरण इसे, पावे मोक्ष निधान॥ (६८०)

जो अदत्त कुछ लेत, ताको सगो न कोई हैं।
गुणनि जलांजलि देत, नरकवास पर भव लहैं॥ (६८१)

काम सुभट के कोपतैं, ब्रह्मचर्य का घात।
ताकूं जीते यतीभट, अन्तर करि अवदात॥ (६८२)

कर्मीके रति होय, अशचि मलिन तिय तन विषैं।
पावे दुर्गति सोय, मुनि त्यागै दिव शिव लहै॥ (६८३)

तपसी मौनी संयमी, श्रुतपाठी युत मान।
तरुणी के संसर्ग तैं, बिगड़े तजहु सुजान॥ (६८४)

सर्व पापको मूल यह, ग्रहण परिग्रह जानी।
त्यागै सो मुनि ध्यानमें, थिरता पावै मानि॥ (६८५)

आशा माता कर्म की, आतमसुं प्रतिकूल।
जेते घट बरतै यहै, ध्यान न शिव सुख मूल॥ (६८६)

चेतन के परिणाम निज, हैं असंख्य श्रुत भाख।
दृष्ट अल्प छद्मस्थके, शेष जिनेश्वर साख॥ (६८७)

उपसर्गादिक क्रोध के, निमित्त भये मुनिराज।
क्षमा धरै क्रोध न करै, तिनके ध्यान समाज ।। (६८८)

पवन वेग तै प्रबल मन, भरमै सब ठौर।
याको बश करि निज रमैं, ते मुनि सब शिर मौर ।। (६८९)

मोह राग रुख वीततै, समता धरै जु कोय।
सुख दुःख जीवित मरण सब, सम लखी ध्यानी होय ।। (६९०)

दुःख के कारण आवतै, दुःख रूप परिणाम।
भोग चाहि यह ध्यान दुर, आर्त्त तजो अघ धाम ।। (६९१)

पंच पाप में हर्ष जो, रौद्रध्यान अघखानी।
आर्त्त कह्यो दुःख मगनता, दोऊ तज निज जानी ।। (६९२)

जहां क्षोभ मन ऊपजै, तहां ध्यान नहीं होय।
ऐसे थान विरुद्ध हैं, ध्यानी त्याग सोय ।। (६९३)

आसन दिढतें ध्यान में, मन लागे इकतान।
तातें आसन योग कू, मुनि कर धारै ध्यान ।। (६९४)

पौरुषकर ध्यावे मुनि, शुद्ध आत्मा जोय।
कर्म रहित वरगुण सहित, तब तैसा ही होय ।। (६९५)

दुःख सुख आये आपके, कर्म विपाक विचार।
हैं जिनको यह ध्यान भवि, करो दुःख हरतार ।। (६९६)

धर्म ध्यान को फल भलो, पद अहमिन्द्र सुरेन्द्र।
परम्परा शिवपुर बसै, जो नर धरै वितन्द्र ।। (६९७)

विद्या जननी मान की, ऋण जननी अपमान।
समता जननी शान्ति की, श्रम जननी उत्थान॥ (६९८)

उद्यम से लक्ष्मी मिले, और द्रव्य से मान।
दुर्लभ पारस जगत् में, मिलनो मीत सुजान॥ (६९९)

सुवर्णकार ने स्वर्ण जब, दिया अग्नि में डाल।
कांप उठ्यो पानी भयो, देख परिक्षा काल॥ (७००)

झूठे पुरुषों से कभी, कोई न करता प्रीत।
सच्चे आदर पात हैं, जग जस लेते जीत॥ (७०१)

मुद्रक : तापड़िया प्रिन्टर्स, डबगरों का कुआ, जोधपुर।